http://transframe.in

Volume 1, Issue 1 September –October 2015

BILINGUAL, BIMONTHLY

TRANSFRAME

WELCOME TO TRANSFRAME

अपनी बात

आज के दौर में विशेष से लेकर सामान्य तक सबको न केवल प्रभावित करने वाले बल्कि ज्ञान और मनोरंजन के स्थापित क्षेत्र हैं अनुवाद और सिनेमा। “ट्रांसफ्रेम” अनुवाद और फिल्म समय के छुए-अनछुए उन तमाम विषयों को अपने अंदर समेटने को उपस्थित हुआ है जिन पर अभी भी गंभीरता से विमर्श बाकी है। संवाद की साझा संस्कृति को प्रोत्साहित करने वाले यह दोनों ही क्षेत्र अध्ययन क्षेत्र के रूप में भी विकसित हैं। इन दोनों ही क्षेत्रों के अपने-अपने सिद्धांत हैं जो उनके व्यावहारिक लक्ष्य सिद्धि का ही परिणाम हैं। इस दृष्टि से सिद्धांत औए व्यवहार का परिचय देने वाली हमारे संज्ञान मे यह पहली पत्रिका होगी। आशा है कि इस दिशा में आप सभी प्रबुद्ध लेखनधारियों का सार्थक लेखन हमारा सहयोगी बना रहेगा। इस उम्मीद के साथ “ट्रांसफ्रेम” का यह प्रवेशांक आपके समक्ष प्रस्तुत है।

संपादक

Special points of interest:

- अध्ययन
- बात-चीत
- शोध
- समीक्षा
- व्यक्तित्व
- सृजन
- भाषा
- अनुवाद
- सिद्धांत एवं व्यवहार

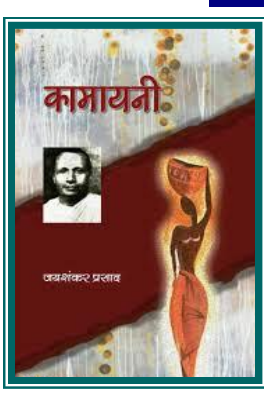

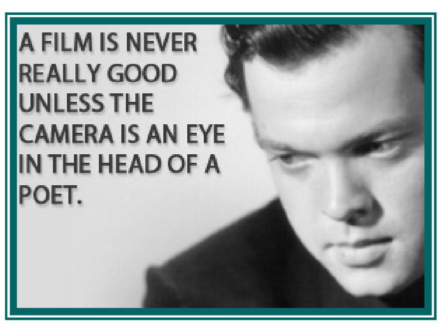

TRANSFRAME

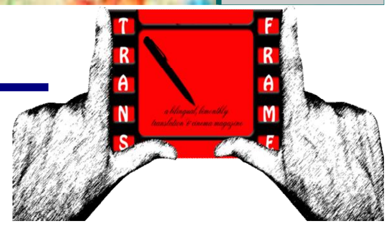

अनुक्रमणिका

- व्यावसायिक फिल्मों का विषय, शिल्प और दर्शक : प्रवीण सिंह चौहान 3

अध्ययन
- संकेतविज्ञान और अंतरप्रतीकात्मक अनुवाद : सुधीर ज़िंदे 6
- महाराष्ट्र लोकनाट्य तमाशा: एक साझी विरासत: रूपाली उत्तमराव अलोने 9

बात-चीत
- फिल्म निर्देशक मुजफ्फर अली : मनीष जैसल 13
- मराठी के प्रयोगधर्मी निर्देशक सुनील सुकथनकर : नीलेश जाल्टे 18

शोध
- हिन्दी सिनेमा में अनुपस्थित दलित मुद्दे : मनीष जैसल 19

समीक्षा
- दृश्यम: दमदार, तार्किक और कसी हुयी कहानी : अभिषेक त्रिपाठी 24
- 'कामायनी' का अँग्रेजी अनुवाद : एक मूल्यांकन : डॉ. अन्नपूर्णा सी. 26

व्यक्तित्व
- आर्सन वेल्स : विवेक कुमार 30

सृजन
- लेखनी , तूलिका और कैमरा : लोकेश देव, दीप्ति शर्मा,मेघा आचार्य,प्रज्ञा देव, शलिनी सिंह, प्रवीण सिंह 33

भाषा
- हिंदी भाषा का सामाजिक संदर्भ : शिल्पा 36

अनुवाद
- वाहरू सोनवने की दो कविताएँ : डॉ . मिलिंद पाटिल 40

सिद्धांत व व्यवहार
- पटकथा लेखन : प्रवीण सिंह चौहान 41
- अनुवाद का सैद्धांतिक संदर्भ : मेघा आचार्य 45

http://transframe.in

ट्रांसफ्रेम

Volume 1 Issue 1

September-October 2015

संपादक

मेघा आचार्य

प्रवीण सिंह चौहान

प्रकाशक

प्रवीण सिंह चौहान

301 काशी निवास, मांडवी गल्ली

वर्सोवा, अंधेरी (वेस्ट)

मुंबई ,महाराष्ट्र

400061

संपर्क - +91 9763706428

E-mail–

contact@transframe.in

लेआउट व डिज़ाइन—प्रवीण सिंह

पत्रिका के आरेख - मेघा आचार्य

ट्रांस फ्रेम में प्रकाशित आलेखों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। आलेख से संबंधित किसी भी विवाद के जिम्मेदार स्वयं लेखक होंगे।

व्यावसायिक फिल्मों का विषय, शिल्प और दर्शक

अध्ययन

हमारे भारतीय सिनेमा ने अपने गौरवमयी १०० साल पूरे कर लिये है पर इन १०० सालो की यात्रा में भारतीय सिनेमा कहा से कहाँ पंहुचा यह सोचनीय विषय है या फिर यूँ कहा जाए इन १०० सालो की यात्रा में भारतीय सिनेमा ने समाज को क्या दिया?

प्रवीण सिंह चौहान

9763706428

praveenkrrish66@gmail.com

हमारे भारतीय सिनेमा ने अपने गौरवमयी १०० साल पूरे कर लिये है पर इन १०० सालो की यात्रा में भारतीय सिनेमा कहाँ से कहाँ पहुँचा यह सोचनीय विषय है या फिर यूँ कहा जाए इन १०० सालो की यात्रा में भारतीय सिनेमा ने समाज को क्या दिया? ये सच है कि फिल्मे समाज का आइना है और समाज के शसक्त निर्माण में फिल्मो की अहम् भूमिका होती है और इसीलिए ८० की दशक की फिल्मे जमींदारी, स्त्री शोषण सहित उन सभी मुद्दों पर आधारित होती थी जो समाज को प्रभावित करते थे। तब जो फिल्मे बनती थी उनका उद्देश्य व्यावसायिक न होकर सामाजिक कल्याण होता था। पर ९० की दशक में फिल्मो में व्यापक बदलाव आये।

ये वो दौर था जब भारत में उदारीकरण की प्रक्रिया को अपनाया गया, भारत ने भी वैश्विक गांव में शामिल होने की दिशा में कदम बढ़ाए और दुनिया भर के देशों में वीजा नियमों में ढील देने की प्रक्रिया शुरू हुई। तब इन भौतिक बदलावों से प्रेरित होकर प्रवासी भारतीयों का स्वदेश प्रेम मुखर हुआ। इसके दर्शन हर क्षेत्र में होने लगे। एक तरह से उन्होंने अपने देश की घटनाओं में आक्रामक हस्तक्षेप शुरू किया। बिल्कुल उसी समय भारत में एक बड़ा मध्यवर्ग जन्म ले रहा था, जिसकी रूचियां काफी हद तक विदेशों में बस गए भारतीयों की तरह बन रही थीं। इसका श्रेय उपभोक्ता उत्पाद बनाने वाली बहुराष्ट्रीय कंपनियों के भारत आने और स्थानीय जरूरत के हिसाब से खुद को बदलने की प्रक्रिया को दिया जा सकता है। नब्बे के दशक के उत्तरार्ध में वैश्विक गांव बनने की प्रक्रिया का पहला चरण पूरा हो चुका था। भारत का मध्यवर्ग और विदेश में बसा प्रवासी भारतीय खान-पान, पहनावे, रहन-सहन आदि में समान स्तर पर आ चुका था।

दोनों जगह एक ही कोक-पेप्सी पी जाने लगी, पिज्जा और बर्गर खाया जाने लगा और ली-लेवाइस की जीन्स पहनी जाने लगी।

भारत की मुख्यधारा के फिल्मकार इस बदलाव को बहुत करीब से देख रहे थे। इसलिए उन्होंने अपनी सोच को इस आधार पर बदला। मशहूर फिल्मकार यश चोपड़ा के बेटे आदित्य चोपड़ा ने स्वीकार भी किया कि वे घरेलू और विदेशी दोनों जगह के भारतीयों के पसंद की फिल्म बनाते हैं। यहां घरेलू भारतीय दर्शक का मतलब भारतीय मध्यवर्ग से लगाया जा सकता है। भारतीय फिल्मकारों की इस सोच में आए बदलाव ने फिल्मों की कथा-पटकथा को पूरी तरह से बदल दिया, खास कर बड़े फिल्मकारों की। उन्होंने ऐसे विषय चुनने शुरू कर दिए, जिनसे व्यावसायिक हितों को कोई नुकसान नहीं होने वाला था। और ये वही दौर था जब फिल्मे समाज हित से हटकर पूरी तरह से व्यावसायिक हित में रम गयी। फिल्मे बनाने वाले निर्देशक और निर्माता यहीं पर भूल कर गए।

वास्तव में यही वो वजह है जिसके कारण आज भारतीय सिनेमा के कथानक में गिरावट आती जा रही है जिसका सीधा असर समाज पर हो रहा है।

हिंदी सिनेमा के बुद्धिजीवी निर्माता निर्देशक मानते हैं कि आज के भारतीय दर्शक सेक्सुअल फिल्मों को अधिक तरजीह देते हैं, इसलिए पारिवारिक फिल्में बॉक्स ऑफिस पर सफल नहीं होती हैं। भारतीय दर्शकों के मनोविज्ञान का विश्लेषण करते हुए वे यह भी दावा करते हैं कि भारतीय दर्शकों को फिल्मों में अगर सेक्स, हिंसा परोसा जाये तो वे ज्यादा संतुष्ट होते हैं, हालांकि भारतीय दर्शक कभी यह मानने को तैयार नहीं हैं।

महेश भट्ट ही नहीं, मनमोहन देसाई से लेकर सुभाष घई और डेविड धवन तक अपनी हर घटिया फिल्म को इस तर्क के साथ ही परोसते रहे कि वे वही बनाते हैं जो दर्शक चाहते हैं। अफसोस कि आज जब हिंदी सिनेमा अपनी शताब्दी मना रहा है, दर्शकों की पसंद जानने का कोई मैकेनिज्म विकसित नहीं हो पाया। फिल्म की सफलता को दर्शकों की पसंद से जोड़ कर देख लिया जाता है और इसे भारत की पसंद भी मान ली जाती है। जिस मुल्क में दर्शकों की तदाद ही एक प्रतिशत हो, वहां किसी एक फिल्म के कुछ दर्शकों के देख भर लेने से कैसे उस आधार पर आम भारतीय का स्वभाव निर्धारित किया जा सकता है।

इतना ही नहीं, यदि सिर्फ सिनेमा की सफलता को ही आधार मान कर चलें, तब भी हिंदी सिनेमा की सफलता का इतिहास दर्शकों के कुछ और ही स्वभाव को रेखांकित करता है। इतिहास में न भी जायें और खुली अर्थ व्यवस्था के बाद दशर्कों की बदलती आदतों और स्वभाव को आधार बनाएं, तब भी 'लगान' और 'गदर' की अभूतपूर्व सफलता को भुलाया नहीं जा सकता। वास्तव में सेक्स हिंदी सिनेमा में कभी लोकप्रियता की वजह नहीं रही। जब भी सेक्स को केंद्र में रख कर फिल्में बनी, नि:संकोच उसे सी ग्रेड का दर्जा दे कर एक खास दर्शक वर्ग के लिए छोड़ दिया गया। सलमान खान की हालिया सफलता को कैसे भूला जा सकता है, जिसमें सेक्स तो क्या, नायिका के करीब होने के दृश्य भी मुश्किल से मिलते हैं। अभी सलमान का मतलब 100 करोड़ की गारंटी है, जो नग्नता की तमाम सीमाएं पार करने के बाद भी 'ज़िद', 'कुछ कुछ लोचा है' जैसी फिल्मे नहीं दे सकती।

आश्चर्य है कि हिंदी सिनेमा में एक भरी पूरी जिंदगी गुजारने के बाद भी बहुत से निर्देशक यह नहीं समझ सके कि भारतीय दर्शकों की पहली पसंद सेक्स नहीं, समाज और समाज की कहानियां हैं। रोहित शेट्टी और प्रियदर्शन की फिल्मों की सफलता पर गौर किया जाये तो हास्य जरूर दिखता है, लेकिन उसके साथ ही समाज और उसकी कहानियां नजर आती हैं। दर्शकों को दोष न दें, वे अब भी 'मसान' और 'माझी द माउंटेन मैन' के लिए पलकें बिछाये हुए हैं।

दर्शक क्या प्रतिक्रिया देता है ?उससे पता लगता कि समाज का मूड किस तरफ इशारा करता है। किसी दृश्य में यों ही तालियां नहीं बजती। किसी गाने को यों ही पसंद नहीं किया जाता। उसके पीछे जरूर कोई बात होती है,जो लोगों के दिलों को छू रही होती है। यह बात फिल्म निर्माताओं को समझनी चाहिए।

फिल्मों के जोनर :-

- एक्शन
- अडवेंचर
- सस्पेंस
- बायोग्राफिकल
- चिल्ड्रेन
- क्राइम
- थ्रिलर

- कॉमेडी
- डांस
- ड्रामा
- एपीक
- फेंटेसी
- हॉरर
- मायथोलोजिकल
- हिस्टोरिकल
- म्यूजिकल आदि।

उपरोक्त सभी जोनर की फिल्मों को भारतीय दर्शकों ने पसंद किया है। विषय तक तो ठीक है लेकिन अगर फिल्म के कंटैंट या शिल्प की बात करें तो इसमे दर्शकों की पसंद के नाम पर निर्देशक निर्माता कुछ भी ठूस देते हैं। इसमे दर्शकों को कहीं भी हाथ नहीं होता। इसे इस उदाहरण से समझा जा सकता है कि एक कॉमेडी फिल्म हिट होते ही बाज़ार मे ऐसी फिल्मों की झड़ी लग जाती है लेकिन दर्शक उन्हे नकार देते हैं। दर्शको की पसंद और बाज़ार लगातार बदलता रहता है। ऐसे मे फिल्मों के विषय और शिल्प को भी उसी के अनुसार बदलना चाहिए। दर्शक आज 'शिप ऑफ थिसस', लंच बॉक्स,जैसी फिल्मे भी देखना चाहते हैं केवल राउडी राठोड, चेन्नई एक्सप्रेस ही नहीं।

ये कहना गलत न होगा कि इन १०० सालो की यात्रा में भारतीय सिनेमा ने जितने मुकाम हासिल किये उतना ही इसने समाज को गलत दिशा भी दी। आज हमारी बॉलीवुड की फिल्मे सेक्स, थ्रिल, धोखे के काकटेल पर बन रही है लेकिन ऐसी फिल्मे औंधेमुह गिर पड़ती है। इसके विपरीत फिल्मे जो कि सामाजिक मुद्दों पर बनती है वो दर्शकों का दिल जीतने में सफल होती है। आज ये वक़्त की जरुरत है कि फिल्मे सेक्स, थ्रिल, धोखे के काकटेल से बाहर निकले और और ऐसे मुद्दों पर बने जो समाजिक मुद्दों से जुड़ी हो। हो सकता है कि ऐसी फिल्मे बाक्स आफिस पर हिट न हो पर लगातार अगर सामाजिक मुद्दों पर फिल्मे बनना शुरू होंगी तो कुछ दिन बाद ऐसी फिल्मे बॉक्स आफिस पर हिट होना शुरू हो जायेंगी क्योकि सिनेमा समाज को जो देता समाज उसी को लेता है। वैसे भी जब इंसान किसी विषय से सालो दूर होता है तो निश्चित तौर पर उस विषय से उसकी दूरी बन जाती है पर अगर उसी विषय पर उसको वापस लाया जाये तो देर जरुर होती है पर अंततः रूचि जाग्रत होती है।

पहले फिल्मकार नए प्रयोग करने से हिचकते थे क्योंकि उन्हें दर्शकों की पसंद-नापसंद का भय रहता था। लेकिन आज दर्शक नए विषयो को भी स्वीकार रहे हैं। रचनात्मक फिल्मकारों के लिए प्रयोग का यह बेहतर समय है। लेकिन हम यह भूल गए थे कि दर्शकों ने हमेशा ही अलग और उम्दा फिल्मों को स्वीकार किया है। कम से कम पिछले ढाई सालों से यही साबित हो रहा है। "सफल फिल्मों ने यह साबित किया है कि जब भी दर्शकों के सामने अलग और लीक से हटकर उम्दा फिल्म होगी, वे खुले दिल से उसे स्वीकार करेंगे।" गत सालों में 'कहानी', 'पीपली लाइव' और 'विक्की डोनर' जैसी लीक से हटकर बनी फिल्मों की बॉक्सऑफिस पर सफलता ने यह साबित किया है कि दर्शक सिनेमा में बदलाव चाहते हैं।

अंत मे मै अपनी बात को सिद्ध करने के लिए बस एक ही तर्क देना चाहूँगा कि –अगर व्यावसायिक सिनेमा का विषय और शिल्प दर्शको से निर्धारित होता है तो लगभग 98 प्रतिशत फिल्मे फ्लॉप नहीं होती। फ्लॉप फिल्मों की संख्या यह तय कर देती है कि फिल्मों का विषय और शिल्प दर्शकों से निर्धारित नहीं होता।

संकेतविज्ञान और अंतरप्रतीकात्मक अनुवाद

अध्ययन

भाषा व्यक्ति के विचारों को अभिव्यक्त करने का साधन है। विचारों की अभिव्यक्ति के रूप में यदि भाषा को हम देखें तो भाषा की परिभाषा मानव समाज तक ही सीमित न रहकर मानवेतर प्राणी जीवन की सांकेतिक भाषा को भी अपने में समाहित करती है।

सुधीर ज़िंदे
पी-एच.डी. शोधार्थी
महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्विद्यालय,
वर्धा, महाराष्ट्र- 442001

नाइडा द्वारा दी गई अनुवाद की परिभाषा के अनुसार अनुवाद करते समय स्त्रोत भाषा की प्रतीक व्यवस्था में निहित अर्थ का अंतरण लक्ष्य भाषा की प्रतीक व्यवस्था में किया जाता है| अंतरप्रतीकात्मक अनुवाद में एक प्रतीक व्यवस्था में दिये गए पाठ को दूसरी प्रतीक व्यवस्था में अंतरित किया जाता है। अंत: भाषिक अनुवाद और अंतरभाषिक अनुवाद से इसकी तुलना करें तो अंतरप्रतीकात्मक अनुवाद में अनुवादक को न केवल भाषिक प्रतीकों से जूझना पड़ता है बल्कि भाषेतर प्रतीक व्यवस्था से भी जूझना पड़ता है। अत: इस दृष्टि से दोनों प्रतीक व्यवस्थाओं के बीच अर्थ के अंतरण की प्रक्रिया का अध्ययन और विश्लेषण आवश्यक हो जाता है। इसे एक उदाहरण के रूप में समझे – जब कोई उपन्यासकर अपने उपन्यास में राम के किरदार को बताते हुये लिखता है कि 'राम बीमार था'। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से हम इसे एक लिखित ध्वनि प्रतीकों की व्यवस्था मानते है जिसका एक विशिष्ट अर्थ है। इस वाक्य का जब रूपांतरण किसी फिल्म के दृश्य में किया जाता है तब एक वाक्य के लिए कई भाषेतर प्रतीकों का प्रयोग उस वाक्य में निहित अर्थ को संप्रेषित करने के लिए किया जाता है।

शब्द(lexical) अर्थविज्ञान शब्द में निहित अर्थ के संदर्भ में यह कहता है कि किसी शब्द को पढ़ते ही पाठक उसमें निहित अर्थ को जितने प्रतिशत ग्रहण करता है उसी के आधार पर उसे दूसरे संप्रेषण के माध्यमों से संप्रेषित करता है|
मोनेको के अनुसार,

"Novel leaves much room for imagination, but in film for example the novel's word 'rose' can bring to mind different kinds of roses, but in film spectators all see one specific rose from a specific angle".

अर्थात यह शब्द से प्रोक्ति तक भाषा के सभी स्तरों पर होता है।

Dinda L. Gorlee के अनुसार,

"Informational loss' must be highest intersemiotic translation in which the semiosis shows maximum degeneracy (and hence maximum generacy) and it must be lowest in intralingual translation, where the simiosis shows maximum generacy (and hence minimum degeneracy)."

अर्थात अंतरप्रतीकात्मक अनुवाद में सृजनात्मक की संभावना अन्य अनुवाद प्रकारों की अपेक्षा अधिक होती है लेकिन साथ ही स्त्रोत भाषा में निहित सूचना के पूर्ण अंतरण की संभावना कम होती है। संकेत विज्ञान और अनुवाद में संबंध स्थापित करते हुये Prnzio कहते है,

"where there are signs, or, better, where there are semiotics processes there is translation".

उसी प्रकार अनुवाद में संकेत विज्ञान की भूमिका को बताते हुये Torop कहते है कि,

"Translation has an inherently intersemiotic character".

भाषा व्यक्ति के विचारों को अभिव्यक्त करने का साधन है। विचारों की अभिव्यक्ति के रूप में यदि भाषा को हम देखें तो भाषा की परिभाषा मानव समाज तक ही सीमित न रहकर मानवेतर प्राणी जीवन की सांकेतिक भाषा को भी अपने में समाहित करती है। एक प्राणी होने के नाते मनुष्य भी मौखिक संप्रेषण के साथ साथ कायिक संकेत के माध्यम से संप्रेषण स्थापित करता है। लेकिन अन्य प्राणियों के मुक़ाबले मानव अपनी कायिक चेष्टा तथा भावभंगिमा के प्रति कम सचेत रहता है। 1950 में अलबर्ट महरेबियन द्वारा कायिक भाषा पर किए गए एक शोध के अनुसार किसी भी मानव भाषिक संप्रेषण में 7 प्रतिशत संदेश वहन शाब्दिक और 38 प्रतिशत संदेश का वहन ध्वनि के सुर तान से होता है जबकि 55 प्रतिशत संदेश का वहन अशाब्दिक या कायिक भाव भंगिमाओं के माध्यम से होता है। इसलिए इस तरह के सांकेतिक संप्रेषण के निर्वचन में संकेत प्रणाली तथा संकेतों के आपसी संबंध का ज्ञान आवश्यक होता है।

सस्यूर ने भाषिक संप्रेषण व्यवस्था को प्रतीक के माध्यम से रखा। उन्होने प्रतीक को 'कथ्य'(signified) और अभिव्यक्ति (signifier) के संबंधों के रूप में देखा। उन्होने प्रतीक को कथ्य और अभिव्यक्ति के पक्षों से जुड़ी एक संश्लिष्ट और सार्थक इकाई माना है। प्रसिद्ध विद्वान पियर्स के अनुसार "A sign is something that stands to somebody for something else in some respect or capacity." उदाहरण के लिए हम कह सकते है कि शिवलिंग भगवान शिव का प्रतीक हैं क्योंकि व्याख्याता (भक्तों) के लिए शिवलिंग वह वस्तु है जो अन्य वस्तु (भगवान शिव) के लिए कुछ विशेष संदर्भों में प्रयुक्त होता है। प्रतीक की अवधारणा त्रिवर्गीय संकेतन संबंधों पर आधारित है – 'संकेतन वस्तु', 'संकेतार्थ', और 'संकेत प्रतीक'। संकेतक वस्तु बाह्य जगत में स्थित इकाई है – यथा घोडा, किताब आदि। 'संकेतार्थ' व्याख्याता प्रयोगकर्ता के मन में स्थित उस इकाई की संकल्पना है। प्रतीक इस संकेतार्थ को अभिव्यक्ति देनेवाली इकाई है जो संकेतार्थ वस्तु के स्थान पर कुछ विशेष संदर्भों में प्रयुक्त होती है।

अत: संकेत विज्ञान और अनुवाद के अंत:संबंध और अंतरप्रतीकात्मक अनुवाद के संदर्भ में निम्न तथ्य स्पष्ट हो जाते है:

- सस्यूर के भाषिक प्रतीक सिद्धांत जिसमें प्रतीकों की प्रकृति जैसे प्रतिमापरक (iconic) प्रतीक संकेतपरक (indexical) प्रतीक और सामान्य प्रतीक (sign proper) के आधार पर प्रतीकांतरण की प्रकृति को प्रतिकों के अर्थांतरण की प्रकृति के आधार पर समझा जा सकता है। इस दृष्टि को ध्यान में रखकर उपन्यास तथा उसके फिल्म रूपांतरण में प्रयुक्त प्रतिकों का विश्लेषण अनुवाद की दृष्टि से किया जा सकता है जिसमें प्रतिकों की संरचना से लेकर अरर्थांतरण में उनकी भूमिका को विश्लेषित किया जा सकता है।

•पियर्स के प्रतीक सिद्धांत जिसमें पियर्स ने प्रतीक व्यवस्था को sign और interpretant की निरंतर शृंखला के रूप में विश्लेषित किया है। उनका कहना है कि प्रतीक interpertant स्वयं एक प्रतीक बनकर दूसरे interpreting के माध्यम से पहले अर्थ से संबंधित दूसरे अर्थ को स्थापित करता है जिसे सामान्य रूप में समझने की दृष्टि से हम लक्षणिक अर्थ भी कह सकते है। और फिर यह प्रक्रिया निरंतर अपने अर्थ का अधिक विस्तार करते हुये चलती रहती है।

संकेतवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए तो प्राणी जीवन पर आधारित वृत्तचित्रों के निर्वचन में प्रकृति और प्राणियों के बीच आपसी संबंधों में निहित संकेतों के आधार पर निर्वचन किया जाता है। इस प्रक्रिया में वृत्तचित्रों में दिखाये गए प्राणियों के बीच घटित बायोसेमिओसिस तथा प्रकृति में हो रहे निरंतर बदलाव के प्रति कायिक प्रतिक्रिया के आधार पर निर्वचक करता है। लेकिन निर्वचन करते समय एक महत्वपूर्ण बात यह कि प्रतीकों की इस व्यवस्था को निर्वचन को अपने श्रोता तक इस तरह से संप्रेषित करना होता है जिसे श्रोता उसे पूर्ण रूप से ग्रहण कर सके। निर्वचन के इस पक्ष में श्रोता के सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति का भी खयाल रखा जाता है जिस तरह से साहित्यिक अनुवाद की प्रक्रिया में होता है। निर्वचन की इस प्रक्रिया में प्रतीकों के बीच यादृचिक संबंधों के आधार पर श्रोता के लिए जानबूझकर उस तरह का निर्वचन किया जाता है ताकि श्रोता की स्वीकार्यता बनी रहे। निर्वचन की इस प्रक्रिया का आधार वह संकेत प्रणाली होती हैं जिसके माध्यम से सही अर्थ तक पहुचने का प्रयास किया जाता है। लेकिन प्राणियों के बीच स्थापित इस संप्रेषन को किसी मानव समाज तक निर्वचन करते समय निर्वचक को कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इसका प्रमुख कारण प्राणियों की सांकेतिक भाषा का मानव भाषा में निर्वचन है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि मानव भाषा संप्रेषन का साधन मात्र न होकर समाज और संस्कृति का आईना होती है। इस दृष्टिकोण से प्राणियों की जीवन पद्धति तथा प्रकृति के साथ उनकी प्रतिक्रीया का मानव समाज और संस्कृति के साथ निर्वचन के माध्यम से मेल बैठा पाना कठिन होता है। इसलिए उचित एवं स्वीकारणीय निर्वचन एक चुनौतीपूर्ण कार्य है।

महाराष्ट्र लोकनाट्य के विविध आयाम, तमाशा : एक साझी विरासत

अन्य सभी भारतीय लोकनाटकों में प्रमुख भूमिका में प्राय .पुरुष होते हैं, लेकिन तमाशा में मुख्य भूमिका महिलाएँ निभाती हैं। 20 वीं सदी में तमाशा व्यावसायिक रूप से बहुत सफल हुआ। तमाशा महाराष्ट्र में प्रचलित नृत्यों, लोक कलाओं इत्यादि को नया आयाम देता है। यह अपने आप में एक विशिष्ट कला है।

रुपाली उत्तमराव अलोने
पी-एच.डी. शोधार्थी
महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा महाराष्ट्र 442001
rupalialone.15@gmail.com

महाराष्ट्र की लोक परम्परा में लोकनाट्य का विशिष्ट स्थान रहा है। ‘नाटक’ और ‘गायन’ प्रत्येक मराठी के दिल में बसता है। लोकनाट्य में प्रयुक्त किये जाने वाले गीत और मानवीय हाव-भाव इस कला को विशिष्टता प्रदान करती है। हालांकि बदलते आधुनिक युग मे महाराष्ट्र के ग्रामीण भागों में लोकनाट्य की परम्परा धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही है। बावजूद इसके यहां की लोक संस्कृति आम जन के मन में अपना विशिष्ट महत्त्व रखती है। रहन-सहन में विविधता के बाद भी सांस्कृतिक एकता स्पष्ट तौर से दिखाई पड़ती है। यही वजह है कि मराठी संस्कृति में लोकनाट्य का अपना एक स्वतंत्र स्थान है। ऐतिहासिक काल से शुरू हुई लोकनाट्य की परंपरा आज भी कायम है।

प्राप्त साक्ष्यों के अनुसार लोकनाट्य का प्रारम्भ 1843 से माना जाता है। शुरुआती दौर में लोकनाट्य के विषय धार्मिक कथाओं, ऐतिहासिक तथ्यों और स्वदेश प्रेम के इर्द-गिर्द ही घूमते थे। पर बदलते वक्त ने इनकी विषयवस्तु में काफी बदलाव किया। धार्मिक कथाओं से शुरू हुआ यह सिलसिला सामाजिक समस्याओं पर भी प्रकाश डालने लगा है। यही वजह ही महाराष्ट्र की संस्कृति और जनजीवन को समझने के लिए यहां के लोकनाट्य सबसे महत्वपूर्ण माध्यमों में से एक हैं। इन नाटकों पर तिलक, चिपलुणकर जैसी विभूतियों के विचारों का प्रभाव था।

1880 में अण्णासाहेब किर्लोस्कर लिखित 'संगीत शाकुंतल' का मंचन हुआ। संगीत नाटक, कीर्तन, ऑपेरा, शास्त्रीय संगीत, महफिल, तमाशा, कर्नाटक संगीत से एकदम अलग नाट्य अविष्कार था। 1910 से मराठी रंगमंच ने स्वर्ण काल देखा, जिस में किर्लोस्कर और गोविंद बल्लाल देवल के बाद कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर, राम गणेश गडकरी जैसे सिद्धहस्त लेखकों ने 'मानापमान', 'स्वयंवर', 'एकच प्याला' जैसे अनेक अजरामर नाटकों को जन्म दिया। जिनका मंचन आज भी हो रहा है।

उस ज़माने में महिलाओं को नाटक में काम करना मना था, जिसके कारण किसी मोहक का बिल सुरीली आवाज के आदमी को ही स्त्री की भूमिका निभानी पड़ती थी। स्त्री की भूमिका करने वालों में और उन्हें ज़्यादा अमर बनाने वालों में प्रमुख नाम नारायणराव राजहंस का लिया जाता है, जो 'बालगंधर्व' के नाम से प्रख्यात हैं, जिन्होंने अपने गायन और रूप से सबका मन मोह लिया था। उनकी समकालीन महिलाएं तो उनके किये गए फैशन को अपनाती थीं। मास्टर दीनानाथ मंगेशकर, नानासाहेब फाटक, भालचंद्र पेंढारकर ने अपने गाँवों में रंगमंच पर इतिहास रचा। शुरू-शुरू में इन नाटकों की अवधि पाँच अंकों की रहती थी जो रात में 10 बजे शुरू होकर सुबह पाँच बजे तक चलते थे। बदलते समय के अनुसार उसे कम कर दिया गया और धीरे-धीरे नाटक 3 अंकों का बन गया। अब तो 2 अंक के नाटक होने लगे हैं, जिनकी अवधि ढाई या तीन घंटे होती है।

'संगीत-नाटक' मराठी रंगमंच की विश्व रंगमंच को एक महत्वपूर्ण देन है। नाट्यानंद,

काव्यानंद और स्वरानंद का संगम अर्थात् 'नाट्य संगीत'। संगीत नाटकों की परंपरा इस आधुनिकता और पश्चिमीकरण के भंवर में भी अपना स्थान अक्षुण्ण बनाए हुए है। समय के अनुसार 'संगीत-नाटक' में आविष्कार होते गए और नए-नए प्रयोग किए गए। लोगों की रुचि देखकर उस में सरलता लाई गई। इसमें पं. जितेन्द्र अभिषेकी का कार्य महत्वपूर्ण रहा। उन्होंने सुगम नाट्यगीत तैयार कर अपनी अलग पहचान बनाई। 1960 से 80 की अवधि में विद्याधर गोखले और वसंत कानेटकर जैसी विभूतियों ने दर्शकों को भानेवाले संगीत नाटकों का निर्माण किया। आज के दौर में तो पार्श्व संगीत के आधार पर रिकार्ड किए गए गाने पेश किए जाते हैं। इस प्रकार नया रूप लेकर पेश किए गए नाटकों को सभी लोगों ने पसंद किया। श्रीकांत मोघे, प्रशांत दामले जैसे अभिनेताओं ने 'लेकुरे उदंड जाहली', 'एका लग्नाची गोष्ट', जैसे नाटकों को लोकप्रिय बनाया। अब तो मराठी नाटकों में सामूहिक नृत्य भी होता है। रंगमंच का इतिहास सामाजिक परिवर्तन से भी जुड़ा है क्योंकि अत्रे, रांगणेकर के नाटकों में महिला कलाकारों ने रंगमंच पर काम करना प्रारंभ किया। उस जमाने में ज्योत्सना भोळे, मीनाक्षी, जयमाला शिलेदार जैसी अनेक अभिनेत्रियों ने रंगमंच की सेवा की। आचार्य अत्रे, पु.ल. देशपांडे ने अपने हास्य नाटकों को लोगों के बीच अजर-अमर बनाया है। पु.ल. देशपांडे के 'बटाट्याची चाळ' तो एकपात्री प्रयोग का शानदार उदाहरण है। उन्होंने अपना अलग दर्शक वर्ग तैयार किया।

मराठी दर्शकों का सबसे पसंदीदा नाट्य प्रकार है 'फार्स', जिस में स्वर ऊँचा अभिनय चटकीला होता है। 'फार्स' नाट्य कृतिको लोकप्रिय बनाने में बबन प्रभु और आत्माराम भेंडे दोनों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। 'दिनूच्या सासूबाई राधाबाई', झोपी गेलेला जागा झाला' ये उनके फार्स तो बहुत ही लोकप्रिय रहे थे और आज भी लोकप्रिय हैं। मराठी नाटकों में अनेक नवीनतम विषयों को स्थान दिया गया। महिलाओं पर आधारित समस्याओं पर नाट्य लेखन हुआ जिस ने समाज के जागरण में महत्वपूर्ण योगदान दिया। 'संगीत शारदा', 'एकच प्याला' जैसे नाटक तो कालजयी कृतियों के उदाहरण हैं। 'कुलवधु', 'महानंदा', 'चार-चौघी', 'आई रिटायर होतेय' स्त्री-जीवन से संबंधित थे जिन्होंने विचारों को प्रेरित किया।

वैसे तो महाराष्ट्र में विभिन्न प्रकार के लोकनाट्य प्रस्तुत किए जाते हैं, परंतु इन लोकनाट्य में‘ तमाशा’ का सबसे ज्यादा प्रभाव दिखाई देता है। तमाशा भारत के लोकनाटक का शृंगारिक रूप है, जो पश्चिम भारत के महाराष्ट्र राज्य में 16वीं शताब्दी में शुरू हुआ था। अन्य सभी भारतीय लोकनाटकों में प्रमुख भूमिका में प्राय: पुरुष होते हैं, लेकिन तमाशा में मुख्य भूमिका महिलाएँ निभाती हैं। 20 वीं सदी में तमाशा व्यावसायिक रूप से बहुत सफल हुआ। तमाशा महाराष्ट्र में प्रचलित नृत्यों, लोक कलाओं इत्यादि को नया आयाम देता है। यह अपने आप में एक विशिष्ट कला है। शुरुआत तमाशा नाटक का ही एक रूप है। इसकी शुरुआत महाराष्ट्र में 16 वीं सदी में हुई थी। यह लोक कला यहाँ की अन्य कलाओं से थोड़ी अलग है।

'तमाशा' शब्द का अर्थ है- मनोरंजन। कुछ शोध कर्ताओं का मानना है कि संस्कृत के नाटक रूपों- प्रहसन और भान से इसकी उत्पत्ति हुई है। इस लोक कला के माध्यम से महाभारत और रामायण जैसी पौराणिक कथाओं को सुनाया जाता है। इस में ढोलकी, ड्रम, तुनतुनी, मंजीरा, डफ, हलगी, कड़े, हारमोनियम और घुँघरुओं का प्रयोग किया जाता है। स्थान मुख्य रूप से तमाशा महाराष्ट्र के' कोल्हाटी' समुदाय द्वारा किया जाता है। इस कला को प्रस्तुत करने के लिए किसी मंच इत्यादि की आवश्यकता

नहीं होती है।इसे किसी भी खुले स्थान पर किया जा सकता है। कृष्ण संबंधी कथाएँ तमाशा के शुरू होते ही सबसे पहले भगवान गणेश की वंदना की जाती है। इस के बाद गलवाना या गौलनियर गाए जाते हैं। मराठी धर्म-साहित्य में ये कृष्णलीला के रूप हैं, जिस में भगवान कृष्ण के जन्म की विभिन्न घटनाओं को दर्शाया जाता है। चरित्र नृत्य शृंखलाओं के अलावा तमाशा में नटुकनी, सौंगाड्या और अन्य चरित्रों द्वारा अनेक प्रकार के शब्दिक कटाक्षों और कूट प्रश्नों द्वारा वाद-प्रतिवाद भी किया जाता है। नटुकनी का चरित्र महिलाएँ निभाती हैं। इस लोक कला में यमन, भैरवी और पिलु हिन्दुस्तानी राग मुख्य रूप से प्रयोग किए जाते हैं। इस के अतिरिक्त अन्य लोकगीतों का भी प्रयोग किया जाता है। इसके अंत में सदैव बुराई पर अच्छाई और असत्य पर सत्य की विजय का संदेश दिया जाता है।

गणपती की प्रार्थना समाप्त होने पर ढोलकी और कडे की गुंज दर्शकों के कानों में गुंजने लगती है। इस के बाद नृत्यांगनाएं 'लावणी' प्रस्तुत करती हैं। तमाशा में शिव और पार्वती के बीच 'लावणी' विधा में सवाल-जवाब होते हैं। 'लावणी' तमाशा के बिना अधूरी-सी है। यह तमाशा का अभिन्न भाग है। 'लावणी' 'लावण्य' शब्द से बना है। जिसका आशय सुंदरता से है। नौ मीटर लंबी पारंपारिक साडी पहने, गहनों से सजी लावणी नृत्यांगनाएं जब सोलह श्रृंगार कर पैरों में घुंगरु बांध अपने शरीर को लहराती है तो दर्शक मंत्र मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकते। इसके बाद गलवाना या गौलनियर (गौळन) गाए जाते हैं। यह भगवान कृष्ण के जन्म की विभिन्न घटनाओं को दर्शाता है। तमाशा में चरित्र नृत्यों के अलावा नटुकनी, नाच्या (सोंगाड्या) और शाब्दिक कटाक्षों व कुट प्रश्नों के द्वारा वाद-विवाद भी किया जाता है। नटुकनी का चरित्र महिलाएं ही निभाती हैं। नाच्या हास्य पात्र की भूमिका करता है जो बेहद महत्वपूर्ण होता है। यह कभी कहानी को आगे बढाने के काम करता है, कभी सूत्रधार बनजाता, कभी विदुषक तो कभी नर्तक बन जाता है। नृत्य करने वाली मुख्य नृत्यांगना के साथ ही इस की भूमिका जरुरी होती है। अधिकतर तमाशों में यह भूमिका पुरुष ही निभाते आए हैं। मराठी लोकनाट्यों में पुरुष द्वारा स्त्री की भूमिका निभाने की परंपरा बहुत पुरानी है।कई-कई नाटको में पुरुषों ने स्त्री की भूमिका बैगैर किसी फुहडपन के इतने उम्दा तरिके से निभाई है कि नाटक देखते वक्त कोई जान नही सकता की वह कलाकार पुरुष है।

तमाशा में 'तुर्रा-कलगी' परंपरा का प्रभाव देखने को मिलता है। इसलिए इसमें 'झगडा' या सवाल-जवाब होते हैं। तमाशा करने वाली मंडली अपने को 'तुर्रा' और 'कलगी' का नाम देती है। तमाशा किसी एक विशिष्ट थीम को लेकर किया जाता है। यह पौराणिक, एतिहासिक और लोककथा पर आधारित होती है। जिसमें संदेश, गीत, संगीत और हसीं-मज़ाक भी शामिल होता है। हर पात्र अपने आप में बेहतरीन होते हैं। इन कहानियों के संवाद लिखित नहीं होते हैं। पात्रों को स्वयं के विवेक से बोलना पड़ता है। बीच-बीच में जब नाच्या अपने कला का प्रदर्शन करता रहता है तो दर्शकों का उत्साह बढ़ता जाता है। इसकी वजह से तमाशा में प्रस्तुत की गई कहानी मनोरंजक हो जाती है।

लेकिन बाजारीकरण के इस युग में तमाशा के भाव और व्यवहार दोनों व्यापक परिवर्तन की दौर से गुजर रहे हैं। आज तमाशा रिकार्डों, कैसटों, फिल्मों और टि.वी के माध्यम से सभी दर्शकों के बड़े हिस्से तक पहुँच रहा है। तमाशा को केवल मनोरंजन के साधन के रूप में नहीं सांस्कृतिक धारा के रूप में भी देखा जा रहा है। यह कला कहानियों और संगीत के माध्यम से शहरी और ग्रामीण, साक्षर और निरक्षर दर्शकों को एक दूसरे से जोड़ती है। यह चलता-फिरता समूह शहरों में गांव से आए कामगारों के लिए गांव की जिंदगी की खबर लाता है और दूसरी तरफ गांव को शहरों के सामाजिक इतिहास और परिवर्तन से अवगत कराता है। इस नजरिए से तमाशा को अंतर्वती या मध्यमवर्ती (इन्टरमीडिएटरी) थियेटर भी कहा जा सकता है। सिनेमा, टी.वी और कंप्यूटर के युग में भी दर्शकों के बीच तमाशा अत्याधिक लोकप्रिय नाट्य है। तमाशा की प्रसिद्धि केवल महाराष्ट्र में ही नहीं है। राजस्थान के जयपुर में भी तमाशा की गौरवशाली परंपरा है। यह महाराष्ट्र की ही देन है। बदलते समय के साथ तमाशा भी तकनीकी रूप से बदलता जा रहा है। इसमें नए-नए प्रयोग किये जा रहे हैं। साथ ही इसके पारंपरिक गरिमा को बचाए रखने का काम आज भी जारी है। अब तो मराठी नाटककला सात समंदर पार जा पहुंची है। जहां-जहां भारतीय डायस्पोरा की पहुँच है वहां-वहां उनकी संस्कृति देखने को मिलती है। मराठी मूल के भारतीय डायस्पोरा विदेशों में भी मराठी नाटक करते हैं और अपने संस्कृति को बचाने के साथ-साथ इसके संरक्षण के लिए भी लगातार

प्रयत्नशील रहते हैं। पर्व विशेष पर यहां बड़े-बड़े आयोजन होते हैं और भारतीय नाट्य कलाकार आमंत्रित किए जाते हैं। इस प्रकार यह एक ऐसे स्थल के रूप में उभर रहा है जहां नाट्यकला की बारीकियों और तकनीकों का आदान-प्रदान हो रहा है। यह मराठी साहित्य और रंगमंच को गौरवान्वित करने वाली प्रक्रिया है।

महाराष्ट्र लोकनाट्य तमाशा को समृद्ध करने में मराठी फिल्मों में बहुत योगदान दिया है। फिल्मों में तमाशा प्रदर्शन को दर्शक बहेद पसंद करते है। मराठी में कई ऐसी फिल्में हैं जो 'तमाशा' पर आधारित हैं। इनमें प्रमुख रूप से'पिंजरा','सांगते ऐका','एक होता विदुषक','तमाशा' और 'नटरंग' काफी लोकप्रिय है। इन मराठी फिल्मों ने इस विशिष्ट परंपरा को न केवल पुनर्जिवित करने का प्रयास किया है बल्कि इन्हें आम दर्शकों के साथ जोड़ने में भी मुख्य भूमिका निभाई है।

मराठी समाज की इतनी महत्वपूर्ण लोककला होने के बावजूद इस कला से जुड़े हुए कलाकार तमाम तरह की विसंगतियों के शिकार हैं। सिनेमा कलाकारों की तुलना में ये नाट्य कलाकार कहीं नजर नहीं आते। जी तोड़ मेहनत करने के बाद भी न तो इन्हें उचित मेहनताना मिलता है, न ही पहचान। इन कलाकारों की सामाजिक स्थिति भी बेहद दयनीय है। बढ़ते मनोरंजन कर ने नाट्य व्यवसाय को पंगु बना दिया है। इसके लिए सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ दोनों जिम्मेदार हैं। किसी भी कला विकसित और संरक्षित करने के लिए राजाश्रय और लोकाश्रय की आवश्यकता होती है। तमाशा के मामले में बड़े पैमाने पर लोक और राज्य दोनों ही स्तरों पर पुख्ता प्रयासों आभाव दिखाता है। यद्यपि मराठी नाटक, और कलाकारों को प्रोत्साहन देने के लिए तथा उनकी कला को रंगमंच प्रदान करने के लिए 'मराठी राज्य नाट्य स्पर्धा' का आयोजन होता है, जिसमें अहमदाबाद, इंदौर, भोपाल, दिल्ली जैसे अन्य राज्यों से प्रविष्टियाँ आती हैं। लेकिन यह इस कोशिश को मुहिम बनाने की जरूरत है ताकि इस लोककला की खुशबू इतिहास के पन्नों में गुम न हो जाए।

संवेदनशील और सरोकारी फिल्म निर्देशक मुजफ्फर अली

बात-चीत

फिल्मे बिना मकसद के नहीं बननी चाहिए ,हर फिल्म का कोई न कोई उद्देश्य जरूर होना चाहिए ,फिल्मे बनाने वाले या बनवाने वाले के दिमाग मे यह साफ होना चाहिए की वो फिल्म को क्यो बना रहा हैं।

मनीष कुमार जैसल
पीएच० डी० नाट्यकला एवं फिल्म अध्ययन विभाग
महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय
वर्धा, महाराष्ट्र
संपर्क सूत्र :- 09616730363

हिन्दी फिल्म जगत में मुजफ्फर अली एक लब्ध-प्रतिष्ठित व्यक्तित्व हैं. एक संवेदनशील और सरोकारी फिल्म निर्देशक के रूप में उन्होने तीन दशक से ज्यादा का वक्त भारतीय सिनेमा को दिया है. साथ ही अपनी विशिष्ट पहचान भी अर्जित की है. सन १९४४ में लखनऊ के एक राजसी परिवार में जन्मे मुजफ्फर की तालीम और तरबियत लखनऊ में ही हुई. इसी वजह से लखनऊ के प्राचीन वैभव एवं समकालीन मूल्यों को उन्होने बेहद करीब से जाना समझा. इसी समझ ने उनके फिल्मों को एक चमत्कारी मौलिकता से नवाज़ा. उनकी बनाई अधिकांश फिल्मों में लखनऊ हमें किसी पात्र की तरह नज़र आता है. जब कभी लखनऊ की पृष्ठभूमि पर बनी फिल्मों की बात होती है मन में पहली छवि मुजफ्फर अली की ही उभरती है. उनकी सबसे पहली फिल्म गमन, उनकी हस्ताक्षर फिल्म उमराव जान और उनकी एक अप्रदर्शित फिल्म अंजुमन इन सभी फिल्मों में लखनऊ अपनी मज़बूत मौजूदगी दर्ज़ करवाता है.हालांकि मुजफ्फर के फिल्म जगत में पदार्पण से पहले भी लखनऊ की पृष्ठभूमि पर चौदहवीं का चांद, पालकी, मेंरे महबूब और बहू बेगम जैसी कई बड़ी फिल्में बनी हैं लेकिन लखनऊ के समाज का जैसा प्रभावी चित्रण मुजफ्फर अली की फिल्मों विशेषकर गमन, उमराव जान और अंजुमन में किया गया वैसा अन्यत्र कहीं संभव नहीं हो सका. गमन में रोज़ी रोटी की तलाश में अपने वतन लखनऊ और परिवार से दूर हुए एक निम्न-मध्य वर्गीय आदमी की पीड़ा है लखनऊ बार बार वापस बुलाता है लेकिन बड़े शहर का खूनी पंजा हुए वापस नहीं आने देता. उमराव जान नवाबी के दौर वाले लखनऊ को दिखाती है जिसमें फैज़ाबाद की एक साधारण लड़की अमीरन के लखनऊ की मशहूर तवायफ उमराव जान अदा बनने की दर्द भरी दास्तान है. तीसरी फिल्म अंजुमन लखनऊ के मध्य वर्गीय जीवन का जीवन्त चित्रण करती है. चिकन कारीगरों के शोषण संघर्ष और जीवन को दिखाती ये फिल्म हालांकि आधिकारिक तौर पर रिलीज नहीं हो सकी थी लेकिन आज भी लखनऊ और लखनऊ के बाहर लखनऊ के आम जनजीवन को समझने के लिए सबसे खूबसूरत फिल्म है. इसी संदर्भ मे मनीष को दिये साक्षात्कार में मशहूर फिल्म निर्देशक मुजफ्फर अली ने ना सिर्फ

कीमती वक्त दिया बल्कि उन्हे लखनवी मोहब्बत से भी महकाया|

पेश हैं मनीष की उनसे बातचीत के कुछ अंश……..

मनीष :आपकी फिल्मों मे लखनऊ की उपस्थिति का क्या कारण हैं ?

मुजफ्फर अली: साहित्य मे लखनऊ को सबने पढ़ा और समझा होगा पर जब हम बात फिल्मों की करते हैं तो बंगाल और केरल के सिनेमा मे आपको वहाँ की संस्कृति और समाज देखने को मिलता हैं, पर उत्तर प्रदेश की संस्कृति को किसी फ़िल्मकार ने नहीं दिखाया, तो हमने लखनऊ और पूरे अवध को जहाँ बहुत कम सिनेमा दिखाई देता हैं उसे चुना |

मनीष :आपकी फिल्मों मे अगर लखनऊ को एक पात्र की तरह देखा जाए तो क्या आप इससे सहमत होंगे ?

मुजफ्फर अली:- हाँ बिलकुल- बिलकुल

मनीष :लखनऊ के अलग अलग कालखंडो को आपने काफी खूबसूरती से व्यक्त किया हैं| आपने 1978 से 1989 तक फिल्मे बनाई तो क्या आपको तब के लखनऊ और अब इस लखनऊ मे किस तरह का फर्क नजर आता है?

मुजफ्फर अली:- हमने अपनी फिल्मों मे अलग अलग दौर के लखनऊ के बिगड़ने की दास्तां दिखाई है,लखनऊ के लुटने की दास्ताँ दिखाई हैं, और रही बात अगर आज के लखनऊ की हैं तो जाहिर हैकि अब इतना सब कुछ बदल गया हैं की नतीजा हम सब के सामने हैं |

मनीष :उमराव जान मे शायरी और लखनवी संस्कृति का बखूबी प्रयोग क्या आपके जीवन से भी जुड़ा कोई हिस्सा हैं ?

मुजफ्फर अली:- हाँ मेरे जीवन से तो जुड़ा हुआ तो है, क्योकि मैं खुद अवध की संस्कृति मे पला बढ़ा हूँ तो फिल्म मे मैंने शेरो-शायरी का इस्तेमाल किया है क्योकि शायरी रूह की चीज होती हैं और किसी के दिल पर राज करने का यह सबसे उम्दा माध्यम हैं और रूह की शायरी करने वालों को ही मैं अपना गुरु मानता हूँ |

मनीष: फिल्मों मे आपने क्षेत्रीय बोली का भी प्रयोग किया हैं इस बारे मे आप हमे कुछ बताए ?

मुजफ्फर अली: क्योकि जुबान जो है वह हर जगह की अलग हैं,इसीलिए आप जहाँ की फिल्म है आप वहाँ की ही तो दिखाएंगे और उसके लिए आपको वहाँ की जुबान,सच्चाई और कहानी तो दिखानी ही पड़ेगी|

मनीष :क्या आपकी तीनों फिल्मों मे स्वर्गीय फारूख शेख के होने का भी लखनवी तहजीब या उस समाज का होना दर्शाता हैं?

मुजफ्फर अली:- हाँ उन दिनो के दौर और फिल्मो के किरदार की दृष्टि से वो मेल खाते थे और वो अपने किरदार मे डूब जैसे जाते थे उनका संवाद और उनकी एक्टिंग भी लखनवी तहजीब से काफी मेल खाती थी |

मनीष :फिल्म गमन के काफी किरदारो ने काफी अच्छी अवधी बोली हैं क्या उसका कोई कारण ?

मुजफ्फर अली :- हाँ **'गमन'** मे काफी किरदार अवध के कोटवारा गाँव के निवासी ही हैं तो उस भाषा बोली को उनसे अच्छा कोई और शायद ही कोई न बोल पाता तो मैंने उनको फिल्म मे लिया|

मनीष :आपकी तीनों फिल्मे सिर्फ मुस्लिम समुदाय के जनजीवन,मुद्दोऔर समस्याओ को उजागर करती हैं ?

मुजफ्फर अली :- नहीं नहीं हमारी फिल्मे मुस्लिम ही नहीं बल्कि हिन्दू मुस्लिम एकता का प्रमाण हैं|

मनीष:लेकिन सर फिल्म गमन मे गुलाम तो मुस्लिम हैं और फिल्म उसी को मुख्य रूप से दर्शाती हुई चलती हैं |

मुजफ्फर अली: पर दूसरी तरफ गुलाम का दोस्त वो .... लल्लू लाल तिवारी की भी तो दास्तां को मैंने दिखाया कि वो किस तरह से अपना घर छोड़ कर बंबई जाता हैं ,वो तो हिन्दू हैं।

मनीष:बिलकुल सर, लेंकिन फिल्म अंजुमन मे आपने चिकन कारीगरों की दशा दिखाई की वो किस तरह से अपना जीवन बसर करते हैं और फिर किस तरह की उन्हे तकलीफ़े झेलनी पड़ती हैं जबकि लगभग कारीगर मुस्लिम हैं ?

मुजफ्फर अली: हाँ भले ही वो मुस्लिम चिकन कारीगरों की कहानी हैं पर अंजुमन को रास्ता दिखने वाली तो वो डाक्टर हिन्दू थी और जो फिल्म मे काफी अहम किरदार निभाती हैं |

मनीष :आप स्वयं इतने रिहासती व्यक्ति थे तो आपने अंजुमन जैसी फिल्म जो चिकन कारीगरों की स्थिति वयाँ करती हैं, तो क्या इसे आपने अपने जीवन मे खुद ही जिया था या आपने इसे देखा ?

मुजफ्फर अली:- हँसते हुए, नहीं मैंने खुद जीवन मे तो ऐसे पल नहीं जिये परंतु चिकन के कारीगरों का दर्द जरूर महसूस किया उसी दर्द के खातिर इस फिल्म का निर्माण हो सका |

मनीष :अंजुमन के आधिकारिक तौर पर रिलीज न होने का कोई मुख्य कारण आप बता सकते हैं ?

मुजफ्फर अली:- नहीं फिल्म विदेशो मे रिलीज हुई और पसंद भी की गयी,

मनीष: पर भारत मे इसके रिलीज न होने का कारण?

मुजफ्फर अली :हाँ भारत मे नहीं हो सकी, फाइनेंसर नहीं चाहते थे की अपने यहाँ हो तो नहीं हुई पर बाहर लोगो ने पसंद की|

मनीष: सर आपने फिल्म गमन मे आपने मख्दूम की एक गजल "आपकी याद आती रही रात भर" अपनी फिल्म मे रखा और उसे छाया गांगुली से गवाया तो क्या उस दौर मे नए गीतकार को गवाया जाना भी कोई आपका एक प्रयास था |

मुजफ्फर अली : नहीं वो उन दिनो की नयी आवाज थी,जो मेरी फिल्म की जरूरत भी थी, तो मैंने उन्हे लिया |

मनीष: सर चर्चा मे था की आपने अंजुमन फिल्म मे आपने शबाना आजमी से भी एक गीत गवाया,और गाने को आपने काफी और गीतकारो से भी गवाया क्या ये सच हैं ?

मुजफ्फर अली :नहीं नहीं, इस गीत के लिए मैने शबाना जी को ही चुना और सिर्फ उनसे ही गवाया |

मनीष :आप स्वयं सत्यजीत राय के साथ एक विज्ञापन एजेंसी मे कार्य करते थे तो क्या आपने उनके सिनेमा से भी कोई सीख ली ?

मुजफ्फर अली :- हाँ मैं तो उसी कंपनी मे उन्ही के साथ काम करता था तो उनसे फिल्मे बनाने की प्रेरणा ली की कैसे फिल्म के विषय को हैंडल किया जाय और किस विषय को समाज मे आईना बना कर दिखाये|

मनीष :उमराव जान बनाने से पहले आपने लगभग 10 सालो तक इस पर काम किया, और इसी बीच आपने गमन बना ली थी तो क्या आपको लगता हैं की गमन मे आपने जल्दी की या उमराव जान के हिट होने का यही कारण हैं की आज सभी के दिलो मे राज कर रही हैं ये फिल्म ?

मुजफ्फर अली:-नहीं मैंने गमन पहले बनाई पर उमराव जान पर काम बहुत पहले से ही कर रहा था,उसकी कहानी, पटकथा को बेहतर से बेहतर करके उस पर फिल्म बनाने की योजना ही फिल्म की सफलता हैं |

मनीष :फैशन डिजाइनिंग, स्कैचिंग,और संगीत से आपका बहुत गहरा नाता रहा हैं तो क्या आपने इन तीनों का अपनी फिल्मों मे भी स्वयं प्रयोग किया या किसी की मदद ली?

मुजफ्फर अली :- जी हाँ गमन मे मैंने खुद ही स्कैचिंग की और संगीत के प्रयोग के लिए मैंने सूफी संगीत को वरीयता दी जो उन दिनो के समाज के लिए बेहतर प्रयोग था और मेरा लगाव भी |

मनीष :आपकी नज़र मे लखनऊ की संस्कृति की मुख्य विशेषता क्या हैं?

मुजफ्फर अली: अदब और गंगा जमुनी तहजीब लखनऊ को जीवंतता प्रदान करता है |

मनीष :फिल्मों के माध्यम से आपने क्यो लखनऊ की संस्कृति को सामने लाना जरूरी समझा?

मुजफ्फर अली:- मुझे लगता हैं की फिल्मे बिना मकसद के नहीं बननी चाहिए, हर फिल्म का कोई न कोई उद्देश्य जरूर होना चाहिए, फिल्मे बनाने वाले या बनवाने वाले के दिमाग मे यह साफ होना चाहिए की वो फिल्म को क्यो बना रहा हैं और हमारी फिल्मों का उद्देश्य गंगा जमुनी तहजीब और वहाँ के समाज को दुनिया के सामने दिखाने का एक प्रयास हैं,मैं साहित्य का भी सहारा ले सकता था पर समाज पर जितना असर सिनेमा का होता हैं उसके कही ज्यादा शायरी का होता हैं तो मैंने अपने सिनेमा मे शायरी को प्राथमिकता दी |

मनीष :सर आप आने वाले दिनो मे कोई फिल्म बना रहे हैं या किसी फिल्म पर काम कर रहे है?

मुजफ्फर अली: हँसते हुए : इसी के लिए तो मुंबई आया हूँ, हाँ मैं लखनऊ की ही संस्कृति पर बन रही एक फिल्म के गाने की रिकार्डिंग का काम कर रहा हूँ|

मनीष :सर फिल्म का नाम ?

मुजफ्फर अली : रश्क

मनीष :सर आप रूमी पर फिल्म बना रहे थे ?

मुजफ्फर अली : हाँ वो अभी बंद कर दी हैं इस फिल्म के बाद शायद शुरू करू | हालांकि मैं रूमी पर जो फिल्म बना रहा था उसकी 24 पटकथा लिख चुका हूँ और अंतर्राष्ट्रीय परामर्शदाता को भेजता हूँ और उधर से भी मुझे अपनी राय भेजते हैं फिर उसी राय पर मैं अपनी पटकथा को फिर से लिखता हूँ, और जब तक बेहतर नतीजे पर नहीं पहुंचता तब तक पटकथा पर ही काम करूंगा, इसीलिए इस फिल्म पर थोड़ा वक़्त लग रहा है|

मनीष :सर आप कश्मीर पर फिल्म बना रहे थे ?

मुजफ्फर अली : धीरे से मुसकुराते हुए, हाँ वो भी साइड मे चल रही हैं |

मराठी के प्रयोगधर्मी, अलग धारा के निर्देशक सुनील सुकथनकर

बात-चीत

मराठी के प्रयोगधर्मी, अलग धारा की फिल्मे बनाने के लिए चर्चित निर्देशक सुनील सुकथनकर के साथ फिल्मों में महिलाओं का स्थान, बाजार नीति पर बातचीत-

निलेश: आज के सिनेमा में महिलाओं की क्या स्थिति है?

सुनील सुकथनकर : फिल्मों के आरंभिक दौर में पुरुषों को ही स्त्री की भूमिका निभानी पड़ती थी| सामाजिक वर्जनाएं टूटने के बाद धीरे-धीरे महिलाओं का इस क्षेत्र में प्रवेश शुरू हुआ| उस जमाने में अभिनय को कला की दृष्टि से देखा जाता था| लेकिन आज महिलाओं को देखने का नजरियाँ बदल गया है, अब महिलाओं का उपयोग ज्यादातर 'ऑब्जेक्ट ऑफ़ डिज़ायर' की तरह हो रहा है, आज भी नायकों की ही प्रधानता है, स्त्री के शरीर और उसके शृंगार पर ज्यादा ध्यान दिया जाता है, सिनेमा में महिलाओं का स्थान पुरुषों की तरह ही महत्वपूर्ण है इसीलिए वह केवल वस्तु की तरह न प्रस्तुत की जाए, इधर कुछ सालों में समाज पर जिस प्रकार बाजारवाद हावी हुआ है, स्त्री की ओर देखने का दृष्टिकोण में भी बदलाव आया है, फिल्मों में, फिल्म इंडस्ट्री में स्त्री का स्थान बड़ा चमत्कारिक है|

महिलाओं का उपयोग ज्यादातर 'ऑब्जेक्ट ऑफ़ डिज़ायर' की तरह हो रहा है, आज भी नायकों की ही प्रधानता है, स्त्री के शरीर और उसके शृंगार पर ज्यादा ध्यान दिया जाता है, सिनेमा में महिलाओं का स्थान पुरुषों की तरह ही महत्वपूर्ण है इसीलिए वह केवल वस्तु की तरह न प्रस्तुत की जाए।

निलेश : प्रादेशिक सिनेमा में मराठी फिल्मों का बोलबाला बढ़ रहा है| क्या कारण है?

सुनील सुकथनकर : मराठी फिल्मों में 70-80 के दशक में कॉमेडी फिल्मों का दौर था| हालाँकि इसमें कुछ प्रयोग काफी अच्छे थे| जब्बार पटेल और अमोल पालेकर ने इस दौरान काफी अच्छी फिल्मे दी,लेकिन उस वक्त ऐसी प्रादेशिक फिल्मों की राष्ट्रीय या वैश्विक प्रस्तुति के लिए मजबूत मंच नहीं था दर्शकों में भी इन्हें देखने के प्रति गंभीरता नहीं थी|

1993 से 2004 के बीच भी कुछ अच्छी फिल्मे आई. इस दौर में अच्छी फिल्मों का जो बीजारोपण हुआ उसका परिणाम 'श्वास' जैसी बेहतरीन फिल्म के माध्यम से मिला 'श्वास' को सुवर्णकमल पुरस्कार मिलने के बाद गंभीर फिल्मों की चर्चा होने लगी. सार्थक फिल्मों के बारे में लोग सोचने लगे, एक प्रदेश की सार्थक फिल्म की प्रतीक्षा दूसरे प्रदेश के लोग भी करने लगे, मराठी फिल्मों में किये जा रहे प्रयोगों के कारण देश में ही नहीं विदेशों में भी ये चर्चित हो रही है|

निलेश: मराठी सिनेमा में भी मसाला फिल्मों का भी बड़ा ट्रेंड है| क्या कहना चाहेंगे?

सुनील सुकथनकर: हाँ, हिंदी की तरह ही मराठी में भी मसाला फिल्मों का चलन बढ़ा है, तमिल तेलुगु हिंदी से डब हो कर फिल्मे आ रही है, वास्तव में इसके पीछे वितरकों की भूमिका महत्वपूर्ण है, जितना अधिक मसाला उतनी अधिक पब्लिसिटी यहीं ट्रेंड बन रहा है और यह खतरनाक है, अगर मसाला फिल्मे अधिक बिकने लगी तो मराठी फिल्मों की स्थिति तेलुगु जैसी हो सकती है|

निलेश झाल्टे
सोशल मीडिया एक्टिविस्ट

हिन्दी सिनेमा में अनुपस्थित दलित मुद्दे

शोध

उँगलियों पर गिनी जा सकने वाली संख्या में ऐसी कई फिल्मे हैं जिनका कथानक आधार दलित रहे हैं | दुनिया में सबसे ज्यादा फ़िल्में बनाने वाला हमारा फिल्म उद्योग देश की सबसे बड़ी आबादी को कैसे नज़रंदाज़ कर सकता है ये सवाल जरुर विचारणीय है |

मनीष कुमार जैसल
पीएच० डी० नाट्यकला एवं फिल्म अध्ययन विभाग
महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय
वर्धा, महाराष्ट्र
संपर्क सूत्र :- 09616730363

सारांश :-

कहते हैं सिनेमा समाज का दर्पण होता है | जो स्थिति समाज की होती है, वही सिनेमा परदे पर दिखा देता है और हम उसे देखकर यह समझ जाते हैं की आज हमारे समाज में क्या हो रहा है | हिंदी सिनेमा ने यूँ तो हर दशक में समाज के ही मुद्दे को अपने परदे पर लाने की कोशिश की है, मगर हम जब बात करते हैं देश के सबसे प्रमुख मुद्दों में से एक दलित मुद्दे कि तो हमारा सिनेमा इस मुद्दे को छूने से आज भी कतराता ही दिखाई पड़ता है | हिंदी सिनेमा ने लगभग अपने समय के समकालीन सभी मुद्दे को बेहतरीन तरीके से सिने परदे पर उतारा है, चाहे वो राजनीति का मुद्दा हो, गरीबी और कुपोषण का मुद्दा हो या चाहे देश में व्याप्त आतंक का मुद्दा हो | लगभग हर मुद्दे पर हिंदी सिनेमा ने बढ़ चढ़ कर हिस्सा लिया है और अपनी उपस्थिति दर्ज कराई है | मगर जैसे ही बात दलितों वंचितों की करते है तो हिन्दी सिनेमा सिर्फ उसे छू कर ही आगे गुजरा हुआ प्रतीत होता है |

हम जानते हैं कि दलितों का मुद्दा हमारे देश में सदियों से चला आता रहा है, हमारे देश के दलित सदियों से सवर्णों के अधीन रह कर ही अपना जीवन यापन करते रहे है | हमारे देश के आजाद होने के ६८ वें साल में भी दलितों की स्थिति जस की तस बनी हुई है, हालाकिं संविधान से दलितो वंचितों को प्रमुख अधिकार दिये गए है इसके उपरांत भी देश के दलित अपने आप को मुख्य धारा से जुड़ा हुआ महसूस नही कर पा रहे हैं | आखिर क्या कारण है कि हिन्दी सिनेमा मे भी दलितों की स्थिति वैसी ही हो गयी है जैसी समाज मे है | क्यों नहीं आज तक हिन्दी सिनेमा ने किसी दलित ज्वलंत मुद्दे को उठाकर पर्दे मे दिखाया है | क्या सिनेमाई पर्दा भी सवर्णों के हाथों से चलता है | या पूरा फिल्म उद्योग सवर्ण मानसिकता से ग्रसित है या फिर हिन्दी सिनेमा का दर्शक ऐसे मुद्दे को देखना ही नहीं चाहता | क्यो हिन्दी सिनेमा के पर्दे से दलित और दलित मुद्दा नदारद रहा है |

ऐसा नहीं है कि दलित मुद्दों पर फिल्में नहीं बनी है | पर जिस तरह निर्देशकों ने उन विषयों को छू कर अपने को किनारे लगाया है वह अविस्मरणीय है | प्रस्तुत शोध पत्र में हम दलित मुद्दो पर बनी फिल्मों की आलोचनात्मक समीक्षा करेंगे तथा पूरे सिनेमा इतिहास को खंगालते हुए सिनेमाई पर्दे पर दलित और उनके मुद्दे को खोजने की कोशिश करेंगे।

प्रमूख शब्द: सिनेमा, फ़िल्म, दलित, दलित विमर्श |

प्रस्तावना :-

व्यावसायिक भारतीय सिनेमा एकलौता सबसे ताकतवर संचार माध्यम है जो भारतीय समाज को प्रभावित करता है | एक अनुमान के मुताबिक हर हफ्ते लगभग 12 मिलियन लोग फिल्म देखते है. क्योकि ये रंगीन है, रोमांस, नृत्य और गानों से भरपूर है, यह आपको बहुत आसानी से पलायनवादी, अतिनाटकीयता, रोमांटिक अथवा शानदार होने की भावना की तरफ ले जा

सकता है | लेकिन यदि हम गहराई से इसकी ओर देखेगे तो यह यह मात्र पलायनवादी अथवा असाधारण दिखने सम्बन्धी नही है, बल्कि भारतीय फिल्मे लगातार उन मूल्यों और भावों की अभिव्यक्ति करती है जो इस समाज में मौजूद होते है. हिंदी सिनेमा ने देश के बड़े मुद्दों में शुमार दलित मुद्दे को कभी भी गौर से नही छुआ है, या यूँ कहें कि सिनेमा ने उसमे कभी कोई रूचि ही नही ली | आप दलित मुद्दे पर बनी फिल्म देखेंगे तो पाएंगे कि सिनेमा ने दलित मुद्दे को सिर्फ सतही तौर पर ही छुआ है |
सिनेमा में क्या दिखाया जा रहा है यह महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि कैसे दिखाया जा रहा है यह महत्वपूर्ण है | यूँ तो उँगलियों पर गिनी जा सकने वाली संख्या में ऐसी कई फिल्मे हैं जिनका कथानक आधार दलित रहे हैं | दुनिया में सबसे ज्यादा फ़िल्में बनाने वाला हमारा फिल्म उद्योग देश की सबसे बड़ी आबादी को कैसे नज़रंदाज़ कर सकता है ये सवाल जरुर विचारणीय है |

विदेशी शोधार्थी भी मान रहे बहुजन जीवन से नदारद है हिंदी सिनेमा ....

पोलैंड के शहर क्राकोव सिथत Jagiellonian University में पीएच डी के लिए शोधरत तत्याना षुर्लेई तिरछी स्पेलिंग नामक इन्टरनेट लिंक मे छपे लेख मे बताती है कि सिनेमा के सौ साल के इतिहास में दलितों के बारे में ज़्यादा फ़िल्में नहीं हैं। शुरू में ऐसा लगा कि गाँधी जी और उनके तरह के दूसरे सुधारकों की मदद से यह विषय लोकप्रिय होगा लेकिन जल्दी ही ऐसी फ़िल्में मुख्यधारा के विषय से बाहर चली गयीं। क्या भारतीय दर्शक ऐसी फ़िल्मों के लिए तैयार नहीं हैं? जब हम बॉलीवुड फ़िल्मों की संख्या के बारे में सोचेंगे तो यह देखेंगे कि दलित न सिर्फ़ जाति के वरीयता-क्रम से बाहर हैं बल्कि सिनेमा से भी बाहर हैं। 100 करोड़ से उपर की जनसंख्या वाले देश के सिनेमा में बहुजन-जीवन के स्वाभाविक-चित्रण का अभाव चिंताजनक है और इसका एक बड़ा कारण संभवतः यह है कि बहुजनों का बड़ा हिस्सा अभी भी सिनेमा के उपभोक्ता समुदाय में तब्दील नहीं हुआ है।
मेरी नज़र मे तो यह तब तक नहीं बदलेगा जब तक उनकी परिस्थितियों को स्वभाविक तरीके से नहीं पर्दे मे नहीं दिखाया जाएगा। अगर हम दलित-समस्या पर ही केन्द्रित रहेंगे और सिर्फ़ सुधार के आग्रही के बतौर ही दलितों का चित्रण करेंगे तो वे कभी समाज के स्वाभाविक हिस्से की तरह कभी नहीं दिखेंगे।

हिंदी सिनेमा में दलित विमर्श:-

अगर बॉलीबुड की फिल्मों का अवलोकन करें तो साफ पता चलता है कि किस तरह से फिल्मों में जातीय वर्चस्व गहराई से बैठा हुआ है | हिंदी फिल्में मीडिया की कल्टीवेशन थ्योरी के अनुसार कैसे बार बार एक ही विचारधारा का संदेश हमारे मस्तिष्क में ठूंसती प्रतीत होती है | हिंदी सिनेमा में दलित विमर्श पर पहली फिल्म "अछूत कन्या" को माना जाता है | हालाँकि इस फिल्म का उद्देश्य ऐसा कुछ भी नहीं था | न ही उसका उद्देश्य किसी का मजाक उड़ाना था और न ही किसी को चिढाना | इसके बाद 1940 में चंदुलाल शाह द्वारा निर्देशित फिल्म "अछूत" आई | इस फिल्म मे एक सवर्ण लड़का और एक नीची जाति की लड़की का प्रेम दिखाया गया है और कैसे पुरानी रुढियों और सामाजिक परिस्थितियों के चलते दोनों अंत में मौत को गले लगा लेते हैं | इस फिल्म का मुख्य उद्देश्य था | इसी के आगे के क्रम में विमल राय द्वारा निर्देशित "सुजाता" फिल्म 1959 में आई हालाँकि समीक्षक मानते है कि यह फिल्म अछूत कन्या और अछूत का ही परिष्कृत रूप मात्र ही बनकर रह गयी |
हिंदी सिनेमा में दलित विमर्श का मुद्दा तब फिर से जोर पकड़ने लगा जब हिंदी सिनेमा के दिग्गज फिल्मकारों में शुमार सत्यजीत राय ने प्रेमचंद की एक कहानी "सद्गति" पर आधारित एक फिल्म बनाइ और उसका नाम भी सद्गति ही रखा | हालाँकि सत्यजीत राय ने पहले भी कहानी पर आधारित फ़िल्में बनाई हैं मगर उन कहानियों को वो अपनी कल्पना के सहयोग से एक दूसरा ही रूप दे देते थे किन्तु सद्गति में उन्होंने इस प्रकार का ज्यादा कोई प्रयोग नही किया, कहानी को जस कि तस परदे पर उतारने कि भरपूर कोशिश की | हाँ कहानी को फिल्म में बदलने कि प्रक्रिया में जो कुछ जोड़ घटाना करना पड़ा उसे सत्यजीत राय ने बखूबी अंजाम दिया |
सद्गति की कथा संछेप में इस प्रकार है | दुखी (ओम पूरी) और झुरिया(स्मिता पाटिल) एक गरीब और अछूत दम्पति हैं- इतने गरीब कि अपनी बेटी के लगन का शुभ मुहूर्त निकालने के लिए पंडित घासीराम(मोहन अगासे) को दक्षिणा देने के लिए उनके पास कुछ भी नहीं है और अपने जैसे अछूत के वहां पंडित को बुलाने कि हिम्मत भी उसके पास नही है | फिर भी दुखी हिम्मत करके पंडित घासीराम के वहां अपनी बेटी कि सगाई का शुभ मुहूर्त निकलवाने के लिए जाता है | बिमारी से उठे और भूखे पेट दुखी

पंडित के वहां पहुचता है तो पंडित उससे झाड़ू लगाने, गोबर से लीपने और एक कुल्हाड़ी देकर उससे एक लकड़ी के विशालकाय गट्ठर को काटने को कहता है | लाचार दुखी पंडित घासीराम का सारा काम करने को तैयार हो जाता है और लकड़ी का गट्ठर काटने लग जाता है | बिमारी और भूख से लड़ रहे दुखी को सूरज की कड़ी धूप और कुंद लकड़ी की धार से भी लड़ना पड़ रहा था उसे किसी भी तरह इस लकड़ी को काटना था जिससे पंडित घासीराम उसकी बेटी की सगाई का शुभ मुहूर्त निकाल दें | मगर इस लड़ाई में अंततः कुंद कुल्हाड़ी और सूरज देवता कि कड़ी धूप ने बीमार और भूख से तड़प रहे दुखी को हरा ही दिया, दुखी वहीँ गिर पड़ा और अपनी अंतिम साँसे लेने लगा! पुलिश के डर से पंडित घासीराम रात के ही समय दुखी के पैर में रस्सी का फंदा डालकर उसे घसीटते हुए श्मशान तक ले जाते हैं | दुखी के शरीर में अब कोई हलचल नही हो रही थी! पंडित घासीराम उसे वहां छोड़कर वापस आ जाते हैं और उस जगह को जहाँ दुखी की लाश पड़ी थी गंगाजल से पवित्र करते हैं! इस फिल्म में सत्यजीत राय ने जिस प्रकार से एक अछूत पर एक ब्राम्हण का जुल्म दिखाया है, वह दरअसल उनकी कल्पना नही थी बल्कि अपने समाज की एक बहुत बड़ी हक़ीकत थी जिसे उन्होंने परदे पर दिखाने का अदम्य साहस किया था | सत्यजीत राय के अलावा भी कुछ निर्देशकों ने इस विषय पर फिल्म बनाने की हिम्मत जुटाई मगर इतनी सफलता अन्य किसी निर्देशक को नही मिली जितनी सत्यजीत राय को मिली | इस लिहाज से देखा जाए तो समाज और साहित्य में जैसा भेदभाव दलितों के साथ हुआ वहीं फिल्मों में भी बदस्तूर जारी रहा|

इसके अलावा जिस फिल्म में दलित मुद्दे को इतनी इमानदारी से उठाया गया वह फिल्म थी 1995 में आई शेखर कपूर कि "बैंडेड क्वीन" हालाँकि इस फिल्म को जितना दलित मुद्दे के लिए बताया जा सकता है उतना ही इसे महिला के मुद्दे के लिए भी बताया जा सकता है | अतः इस पर गहन चर्चा सिर्फ दलित मुद्दे के उद्देश्य से नही की जा सकती | इन फिल्मों के अलावा हिंदी सिनेमा ने अपने दस दशकों में छुट पूट तौर पर कई फ़िल्में दलित मुद्दे पर बनाई मगर उनको न तो सरकार ने गंभीरता से लिया न ही दर्शकों ने और अंतिम के कुछ दशकों को देखें तो हिंदी सिनेमा को व्यवसाय का ऐसा चस्का लगा कि वो अब ऐसे मुद्दे पर कोई फिल्म बनाना ही नही चाहती है | वो तो बस नाच गाने और मनोरंजन से भरपूर फिल्म बना कर ही पैसे कमाना चाहती है |

हाल के वर्षो में यदि हम हिंदी सिनेमा का अवलोकन करें तो दलित मुद्दे पर बनी आरक्षण फिल्म ने दर्शकों का ध्यान अपनी और आकर्षित करने कि भरपूर कोशिश कि मगर निर्देशक प्रकाश झा ने दलित मुद्दे को इतनी सतही तौर पर छुआ कि यह दर्शकों तक पहुच ही नहीं पायी | वहीँ एक और फिल्म का जिक्र मैं यहाँ करना चाहूँगा "बन्दुक" जिसका नायक एक दलित है, जनवरी 2013 में आई यह फिल्म एक विद्रोही दलित कि कहानी कहती हुई नजर आती है | इस फिल्म का नायक एक दलित परिवार में पला बड़ा होता है |जिसकी वजह उसे तरह तरह कि यातनाएं झेलनी पड़ती है | मगर वह इससे हार न मानकर समाज में अपनी पावर बनाने के लिए बन्दूक उठा लेता है और इसमें उसका साथ एक बड़े मंत्री का शूटर देता है | इस फिल्म में भी दलितों कि स्थिति को ठीक ठीक दिखाने कि पूरी कोशिश तो कि गयी है, मगर ना जाने किस डर से इसको यथार्थ से हटाकर पूर्णतया कल्पना के भरोसे पर छोड़ दिया गया है | जिसकी वजह से दर्शकों को समाज में चल रही दलितों कि स्थिति पर भरोसा ही नहीं हो पा रहा है |

आमिर खान निर्देशित फिल्म पीपली लाइव ने भी एक साथ कई सवाल खड़े किये पर जो सवाल सबसे महत्वपूर्ण था जिसको नज़रंदाज़ किया गया वह थी नत्था की जाति | क्या यह सत्य नहीं है कि इस देश के गरीब किसानों की श्रेणी में अधिकतर वे ही समुदाय आते हैं जिन्हें हम दलित के नाम से जानते हैं | जरा गौर करें तो पाएंगे की फिल्म मे नत्था जब सबसे पहली बार गाँव के नेता से आर्थिक मदद मांगने जाता है तो उस नेता का नाम भाई ठाकुर होता है ये नाम कुछ और भी हो सकता था |

सवर्णों का ही रहा है अब तक का सिनेमा ...

फिल्मों के नाम से ही पता पड़ता है कि सवर्ण मानसिकता की गुलामी से हमारा हिंदी सिनेमा भी बाहर नहीं निकला है | अब चाहे तो इन नामों को ही देख लें | मि.सिंह vs मिसेज मित्तल (२०१०), मित्तल v/s मित्तल (२०१०) , रोकेट सिंह सेल्स मैन ऑफ दा इयर (२००९), सिंह इस किंग (२००८), मंगल पांडे (२००५), भाई ठाकुर (२०००),अर्जुन पंडित (१९७६, १९९९) क्षत्रिय (१९९३), राजपूत (१९८२) ,जस्टिस चौधरी (१९८३),पंडित और पठान (१९७७) मिस्टर एंड मिसेज अय्यर, सूर्यवंशम, ये कुछ ऐसे नाम वाली फिल्में हैं जो भारतीय हिंदी सिनेमा के निर्देशकों के दिमाग मे चल क्या रहा है उसे दर्शाती है | मुकुल श्रीवास्तव अपने ब्लॉग मुकुल का मीडिया मे लिखे लेख मे कहते है की चलिए सृजनात्मक अभिव्यक्ति के नाम पर इन सारे नामों को स्वीकार कर लिया जाए फिर भी क्या कारण है कि दलित ,दुसाध ,मंडल पासवान जैसी दलित जातियों के नाम पर फिल्म नहीं बनती क्या दलित हमारे

समाज का हिस्सा नहीं हैं , अगर हैं तो वो फिल्मों में क्यों नहीं दिखते और अगर दिखते भी हैं तो हमेशा की तरह पीड़ित सताए हुए इसका क्या अर्थ निकाला जाए | मेरी अपनी नज़र मे तो उन्हें सिर्फ एक वोट बैंक के रूप में आज तक देखा गया है जो सरकारों की तकदीर तो बना बिगाड़ सकते हैं पर एक औडिएंस के रूप में उनकी इच्छाओं , अपेक्षाओं और जरूरतों को महत्व नहीं दिया जा रहा है |

कहते हैं सिनेमा बदल रहा है पर दलित तो अब भी कही दिखते ही नहीं….

डिजिटल इंडिया के इस युग में प्रोद्योगिकी से शायद ही कोई अछूता होगा | हिंदी सिनेमा में नयी तकनीक तेजी से आ रही है, फिल्मों के डिजीटल प्रिंट भी धड़ा धड रिलीज हो रहे हैं | रोज नए मल्टीप्लेक्स, सिनेप्लेक्स, आईनॉक्स आदि खुल रहे हैं, सिनेमा तो बदल रहा है पर एक चीज जो अभी तक नहीं बदल रही है, वह है सिनेमा का जातिगत स्वरुप।

अपने आप को विश्व का सबसे प्रगतिशील कहने वाला मुंबई फिल्म उद्योग हमेशा सवर्णों पर ही क्यो मेहरबान रहा है | फिल्मों की दुनिया में कुछ परिवारों का ही राज चलता है उसके बाद अगर किसी के लिए जगह बचती है तो वो भद्र कुलीन सवर्ण जातियों के लोग ही होते हैं | यहाँ तक की फिल्म के कथानक में भी दलित पात्रों को विकसित होने का पूरा मौका नहीं दिया जाता उन्हें जिंदगी में जो कुछ भी हासिल हो रहा है इसका सवाल उठाने वाला भी शायद अब कोई नहीं हैं | आजादी के बाद सोचिये कितने दलित अभिनेता फिल्म में आये हैं या उन्हें मौके मिले है इस पर भी गौर फरमाने की जरूरत है वरना संविधान मे दिये गए अधिकारों की तरह हिंदी सिनेमा मे भी दलित कहीं अपने आरक्षण की मांग न उठाने लगे |

संवादों मे भी झलकता है सवर्ण प्रेम :-

भारतीय सिनेमा के १०० वर्षों के इतिहास में अगर झांक कर देखा जाये तो यह पता चलता है रामायण और महाभारत ही हमारी फिल्मों के कथानक का श्रोत रहे है जिसका मूल आधार ही चतुर वर्ण व्यवस्था को कायम रख इनका महिमा मंडन करना रहा है | मुकुल श्रीवास्तव कथा देश, मासिक पत्रिका के मीडिया वार्षिकी अंक मे छपे लेख मे लिखते है कि "इसका अर्थ यह भी नहीं कि फ़िल्में जाति प्रथा के प्रति कोई दृष्टिकोण पेश नहीं करती | सतही तौर पर हिंदी फ़िल्में उंच नीच के भेद को अस्वीकारती नज़र आती हैं |

हिंदी सिनेमा के संवादों मे भी किस तरह का सवर्ण प्रेम दिखता है वो भी देखिये…… ठाकुर साहब हम गरीब हैं तो क्या हमारी भी इज्ज़त है , .हम ठाकुर हैं जान दे देंगे लेकिन किसी के सामने सर नहीं झुकायेंगे, ब्राह्मण की संतान होकर तूने यह कुकर्म किया ,एक सच्चा राजपूत ही ऐसा कर सकता है आदि . ऐसा लगता है इस पूरे समाज मे सिर्फ सवर्ण ही पाक साफ है दलित तो एक महामारी है | हा हिंदी सिनेमा ने यहाँ थोडा ध्यान जरूर दिया है की हिंदी फ़िल्में जातियों का उल्लेख किया बिना ही उच्च वर्ण की श्रेष्ठता और उसके दृष्टिकोण को स्वीकारती है |

हिन्दी सिनेमा परिवार से दलित नदारद है ....

कपूर खानदान, खान परिवार, बच्चन फैमिली इत्यादि की तरह क्या कोई दलित फैमिली बॉलीवुड मे अपना योगदान दे रही है यह सोचनीय और जिज्ञासु प्रश्न है ??

क्या बैंडेड क्वीन वाली सीमा बिस्वास में योग्यता नहीं थी या रघुवीर और राजपाल यादव मे नहीं है | इन तीन नामों के अलावा समकालीन हिंदी सिनेमा में किसी दलित अभिनेता या अभिनेत्री के बारे मे शायद ही कोई जानता होगा | अन्य कलात्मक व्यवसाय की तरह यहाँ भी जाति का ही राज चलता दिख रहा है | किसी की तीसरी पीढ़ी यहाँ काम कर रही है और किसी की चौथी और इस पीढ़ी गत व्यवसाय में किसी भी दलित का प्रवेश निषेध सा ही है |

निष्कर्ष :-

हम यह कह सकते हैं कि हिंदी सिनेमा ने दलित मुद्दे पर कभी गौर से देखा ही नहीं और कोई सार्थक फिल्म नहीं बनाई या यूँ कहें कि आज भी हिंदी सिनेमा में जिस प्रकार सवर्णों का बोलबाला है, वो दलित मुद्दे को छूना ही नहीं चाहते | दलितों को केंद्र में रखकर फिल्म बनाई जा सकती है पर वो हमारे फिल्मकारों की सर्जनात्मक प्राथमिकता में नहीं है तभी तो आप देखिये जहाँ हमारा हीरो अपने आपको कभी राहुल बजाज बताता है तो कभी सिंहानिया , कभी गुप्ता जी तो कभी लाला जी ,विजय और राज महरोत्रा को तो बिल्कुल भूला नहीं जा सकता | मेरा यह मानना है कि जब तक हिंदी सिनेमा दलितों के मुद्दे को अछूत मानता रहेगा तब तक देश

में दलित विमर्श सिर्फ एक मजाक की तरह ही माना जाता रहेगा | ऊपर बताए चंद नाम एक बानगी हैं कि फिल्मों में जाति कितनी महतवपूर्ण है . पिछले दो दशक की समकालीन फिल्मों में सिर्फ एक फिल्म चाची ४२० ही ऐसी है जिसके नायक का नाम राजेश पासवान है यदि हम आज यह कहें कि हमारे दलित अपने आपको मुख्य धारा से क्यूँ नही जोड़ पा रहे हैं तो हिंदी सिनेमा भी एक मुख्य कारण बन कर उभर आएगा | दलित पात्र हमेशा पीड़ित ,शोषित और न्याय की गुहार के लिए दर दर भटकता दिखेगा उसका कल्याण भी किसी सवर्ण के ही हाथों होता है. "सवाल दलितों पर फ़िल्में बनाने का नहीं है, सवाल ये है की वे जब परदे पर उतारे जाते हैं तो किस तरह का चरित्र उनमें उभारा जाता है |

सन्दर्भ सूची :-

- भारतीय सिनेमा का अंतःकरण (विनोद दास)
- http://timesofindia.indiatimes.com/entertainment/hindi/movie-reviews/Bandook/movie-review/18076061.cms
- http://jantakapaksh.blogspot.in/2013/05/blog-post_5.html
- http://mukulmedia.blogspot.in/2011/04/blog-post.html#.Va4HJ_mqqko
- सिनेमा और समाज(१९९३) :विजय अग्रवाल ,सत्साहित्य प्रकाशन ,दिल्ली पृष्ठ संख्या ११
- मीडिया और संस्कृति (२००८):संपादक ,रूप चंद गौतम ,श्री नटराज प्रकाशन दिल्ली पृष्ठ संख्या २८
- वर्ण व्यवस्था एक वितरण व्यवस्था (२००३):एच एल दुसाध ,सम्यक प्रकाशन ,नयी दिल्ली पृष्ठ संख्या ६७
- समकालीन सृजन (हिंदी सिनेमा का सच १९९७):संपादक मृत्युंजय कलकत्ता पृष्ठ संख्या २५
- .लोकप्रिय सिनेमा और सामजिक यथार्थ (२००१):जवरीमल्ल परख ,अनामिका पब्लिशर्स नयी दिल्ली पृष्ठ संख्या ११४
- सिनेमा और समाज(१९९३) :विजय अग्रवाल ,सत्साहित्य प्रकाशन ,दिल्ली पृष्ठ संख्या २१
- N. Ghosh, Ashok Kumar. His Life and Times, New Delhi 1995, p. 67-68.
- A. Chowdhury, Dev Anand. Dashing Debonair, New Delhi, 2004, p. 17-18.
- M. Bose, Bollywood. A History, Glouceshire, 2006, p. 205.
- http://aadivasiman.blogspot.in/2014/04/blog-post_7967.html
- http://timesofindia.indiatimes.com/india/Dalits-strive-to-make-it-in-Hindi-Bhojpuri-films/articleshow/2929497.cms
- . http://mohallalive.com/2010/06/22/sheeba-react-in-bollywood-behaviour-with-dalit-character/
- http://www.janatantra.com/news/2010/07/06/sheeba-aslam-fehami-on-bollywood-dalit-and-anurag/
- बहुवचन, अंक 39 अक्टूबर-दिसंबर 2013
- वर्तमान साहित्य , सिनेमा विशेषांक – 2002
- हंस पत्रिका,हिंदी सिनेमा के सौ साल,- फरवरी 2013

दृश्यम: दमदार, तार्किक और कसी हुयी कहानी के किले पर खड़ी एक उम्दा फ़िल्म

समीक्षा

इस फ़िल्म ने इस बात पर बल दिया है और उसे स्थापित भी किया है कि अपराध हमेशा अपराध नहीं होता और अपराध हो जाने के बाद भी किसी का क़ानून के चंगुल से बचना जायज़ हो सकता है.

अभिषेक त्रिपाठी
पीएच॰ डी॰ नाट्यकला एवं फिल्म अध्ययन विभाग
महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय
वर्धा, महाराष्ट्र
संपर्क सूत्र :- 09616730363

निर्देशक- निशिकांत कामत
लेखन- जीतू जोसफ
ओरिजिनल स्टोरी- उपेन्द्र सिधाए

अभिनय-
अजय देवगन - विजय साल्गाओंकर
श्रिया सरन- नंदिनी साल्गाओंकर
तब्बू- मीरा देशमुख
रजत कपूर - महेश देशमुख
इशिता दत्ता- विजय की पुत्री
मृणाल जाधव - विजय की पुत्री

कॉपी राइट विवाद के हल्के-फुल्के झटके से उबरते हुए हिंदी दर्शकों तक पहुँची फ़िल्म "दृश्यम" इसी नाम के साथ जीतू जोसफ़ के निर्देशन में मलयाली भाषा में तैयार फिल्म का हिंदी संस्करण (रीमेक) है....! निर्देशक निशिकांत कामत के द्वारा तैयार दृश्यम के इस हिंदी रीमेक ने बॉलीवुड फिल्मों के दर्शकों के सामने एक सशक्त फ़िल्म प्रस्तुत की है ! इस फ़िल्म ने फ़िल्म के बुनियादी गुण (सस्पेंस) को अपने से चिपका लेने में पूरी सफलता हासिल की है. एक ओर तो फ़िल्म मध्यांतर के पहले दर्शकों को बहुत हद तक बोर कर समूचे फिल्म के प्रति जल्दबाजी में गलत धारणा बना लेने के लिए विवश करती है; नतीजतन मध्यांतर में कोल्ड ड्रिंक, स्नैक्स और टिकट में हुए भारी इन्वेस्टमेंट के साथ समय बर्बादी का रोना रोकर बॉलीवुड की संस्कृति को कोसते हुए दर्शक जब बुझे मन से दुबारा फिल्म देखने के लिए कुर्सी पर बैठते हैं तो फ़िल्म की कहानी अनपेक्षित रूप से अचानक मज़बूत गठन, प्रभावशाली प्रस्तुति और रोमांच के समुद्र द्वारा दर्शकों को मध्यांतर के पहले वाले अपने कोसने के भाव को अचानक से त्याग कर पाला बदलते हुए सिटी और ताली के साथ कुर्सी पर चिपक-चिपककर उछलने के लिए विवश कर देती है !!!!! मध्यांतर के पहले तक पैसेंजर ट्रेन की रफ़्तार से चलकर दर्शकों को बोर कर रही इस फ़िल्म ने मध्यांतर के बाद जो गति पकड़ी, वो कुछ ऐसा ही था जैसे सहसा पैसेंजर ट्रेन में राजधानी सुपरफास्ट का इंजन आ जुड़े और दर्शक ट्रेन में ही उड़ने लगें.... ऐसे में फ़िल्म देख रहा दर्शक अचानक से हुए इस चमत्कार का कितना लुत्फ़ उठाएगा, बखूबी समझा जा सकता है !!!!! यद्यपि फ़िल्म को सिनेमा हॉल में लगे और उतरे कुछ दिन गुजर गए हैं फिर भी इधर की प्रदर्शित फिल्मों में इस फिल्म की अतिरिक्त विशेषता इसके अंदरुनी पक्षों पर इस वक्त भी विचार के लिए अभिप्रेरित कर रही है ! फ़िल्म "दृश्यम" की कुछ विशिष्ट खूबियां - दृश्यम के कथ्य पर यदि बात की जाए तो बहुत ही सहजता के साथ कहा जा सकता है कि यह उत्सुकता पैदा करने की क्षमता से अटी-पड़ी और मज़बूत कहानी वाली एक फ़िल्म है. इस फ़िल्म में एक-एक घटना के तार को आपस में जोड़कर फिल्म को और भी तर्कसंगत और प्रभावी बना दिया गया है (जैसे पुलिस थाने का एक भवन होने के बावजूद नये भवन के निर्माण का औचित्य). फिल्म जिस तरह एक परिवार के बीच की आपसी बॉन्डिंग को दिखाती है वह अद्भुत है. सड़क से उठाकर गोद ली हुयी अपनी बेटी द्वारा किये गए अपराध को छिपाने के लिए बाप (अजय देवगन), अपने चार लोगों के समूचे परिवार

जिसमे एक बेहद छोटी सी बच्ची भी है, के साथ कौन-कौन से बेहद तर्कपूर्ण और कानून की पारखी आँख से बचाने वाले धासू तिकड़म भिड़ाता है ; यह देखकर मन रोमांचित हो जाता है. यद्यपि अजय देवगन चौथी फेल है, फिर भी उसका दिमागी कमाल दर्शकों को आह्लादित और रोमांच से भर देता है. दिमाग के इस अद्भुत और तीक्ष्ण उपयोग की पृष्ठभूमि भी फिल्म में रची गई है. केबल की दूकान चला रहा यह व्यक्ति दिन भर बड़े ध्यान के साथ, मगन होकर दिन-भर हिंदी फिल्मों को देखता है, उसमें डूबता-उतराता है..... ऐसे हिंदी फ़िल्मों में निरूपित तमाम हथकंडे उसके तजुर्बे सरीखे हो जाते हैं. इस फ़िल्म ने इस बात पर बल दिया है और उसे स्थापित भी किया है कि अपराध हमेशा अपराध नहीं होता और अपराध हो जाने के बाद भी किसी का क़ानून के चंगुल से बचना जायज़ हो सकता है. जब एक आम बेहद कम पढ़ा लिखा आदमी पुलिस से बचने के लिए अपने तिकड़म भिड़ाता और पुलिस लहराती और बलखाती है तो एक अलग ही किस्म का भाव सिनेमा हॉल में पैदा हो जाता है। यह फिल्म भ्रष्टाचार के मुद्दे पर भी मुखरित है और परिणति के तौर पर उसमें लिप्त पुलिस वाले को अच्छा सबक दे जाती है. एक माँ - बाप (जिसमें माँ आइ. जी. है) द्वारा अपने एकलौते बेटे की घृणित ज़्यादती के एवज में उसकी हत्या हो जाने पर, उसकी हरकतों पर अपनी परवरिश को दोषी मानने और निरुत्तर हो जाने के मार्मिक दृश्य फिल्म के एक मज़बूत दृश्य के रूप में गिना जा सकता है! यह फ़िल्म इस लिहाज से भी महत्वपूर्ण है कि इसमें नायक के नायकत्व को देह बल से नहीं अपितु दिमाग के बिना पर स्थापित किया गया है. अभिनय के दृष्टिकोण से भी यह फिल्म उम्दा कही जा सकती है..... यद्यपि कुछ जगहों पर खामियां तलाशी अवश्य जा सकती हैं परन्तु फिर भी अजय देवगन, मृणाल जाधव और रजत कपूर का अभिनय ज़बरदस्त है. इस फ़िल्म ने एक बार फिर अजय देवगन को अपने आँखों से खेलने और बहुत कुछ कह जाने का स्वर्णिम मौक़ा दे दिया है. छोटी बच्ची के रूप में मृणाल जाधव ने कमाल कर दिया है.... बजरंगी भाईजान फ़िल्म में जिस बच्ची ने अपने अभिनय के जरिये लोगों को प्रभावित कर दिया था... यह बच्ची उस पर भारी पड़ रही है... ! फ़िल्म का तकनीकी पक्ष भी काबिलेतारीफ है विशेषतः सम्पादन के कुछ स्थल तो अत्यंत प्रभावपूर्ण हैं. फ़िल्म अपने समापन के दौर में जिस तरह के दार्शनिक और गूढ़ार्थ संवादों को प्रस्तुत करती है, उसने फ़िल्म की गुणवत्ता में चार-चाँद लगा दिया है... (अजय देवगन का संवाद- पुलिस लोगों की रक्षा करती है... और मुझे यकीन है कि जब तक आप लोग रहेंगे.... मैं सुरक्षित रहूंगा.....)

‘कामायनी’ का अँग्रेजी अनुवाद : एक मूल्यांकन

समीक्षा

डॉ. अन्नपूर्णा सी
एसोसिएट प्रोफेसर
अनुवाद अध्ययन विभाग
महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय
वर्धा, महाराष्ट्र

अनुवाद समीक्षा का तात्पर्य है- “मूल भाषा पाठ की तुलना में अनूदित पाठ के गुण-दोष का विवेचन”। अनुवाद समीक्षा, अनुवाद कार्य का वैकल्पिक पक्ष है। अनुवाद कार्य एक कौशल है, जिसकी निष्पत्ति का अध्ययन करने वाली अनुवाद समीक्षा एक ज्ञानात्मक विद्या है। अनुवाद कार्य और अनुवाद समीक्षा दोनों अनुवाद प्रक्रिया के दो समस्तरीय पहलू हैं। अपनी प्रकृति और महत्व के कारण अनुवाद समीक्षा का अपेक्षाकृत स्वतंत्र स्थान है।

जयशंकर प्रसाद बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार थे। प्रसाद ने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा द्वारा युगीन चेतना की न केवल झांकी प्रस्तुत की बल्कि मानव हृदय को प्रेरित और उद्वेलित भी किया।

प्रसाद के समस्त काव्य में अंतर्द्वंद एवं मानसिक संघर्ष की प्रधानता है। इसके मूल में पारिवारिक संघर्ष और संकट, असमर्थ मे ही प्रियजनों का वियोग, देश की पराधीनता, स्वतंत्रता संग्राम की असफलताएँ, सामाजिक विषमताएँ आदि प्रमुख हैं। उनकी रचनाएँ तत्कालीन मानव समाज की आंतरिक स्थिति का भी द्योतक है जिसका चरम विकास कामायनी में हुआ है।

‘कामायनी’ कथा भाग में प्रसाद ने तीन बातें दिखलाई हैं- प्रथम, मनु को तांडव नृत्य करते हुए नटराज शिव के दर्शन होते हैं। दूसरे, मनु को त्रिपुर या त्रिकोण का वास्तविक ज्ञान होता है; और तीसरे, कैलाश शिखर पर पहुँचकर वे समरसता को अपनाते हुए अखंड आनंद का अनुभव करते हैं। वहीं पर इड़ा, मानव और सारस्वत नगर की प्रजा भी पहुँच जाती है जिससे एक संयुक्त परिवार बस जाता है और सभी सम्मिलित रूप से भौतिकता से परे आध्यात्मिकता और भौतिकता के समन्वित रूप को अपनाते हुए अखंड आनंद प्राप्त करते हैं। अंतिम भाग में प्रसाद ने अपने दार्शनिक सिद्धान्त के आधार पर कथा को एक अप्रत्याशित मोड़ दिया है, जिससे उसमे ऐतिहासिक तत्वों का अभाव और दार्शनिकता की प्रधानता हो गई है।

जयशंकर प्रसाद कृत ‘कामायनी’ महाकाव्य का डॉ. बी.एल. साहनी ने अँग्रेजी में अनुवाद किया। डॉ. साहनी का ‘विजातीय भाषा’ अँग्रेजी में यह सफल अनुवाद, अनुवाद के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। भाषा, साहित्य और संस्कृति की दृष्टि से विजातीय भाषाओं में अनुवाद करना अत्यंत श्रम-साध्य कार्य है।

शब्द और वाक्य के स्तर पर मूल और अनूदित पाठ का भेद काव्यानुवाद की स्वाभाविक प्रक्रिया का परिणाम है, जो आधुनिक अनुवाद चिंतन में काव्यानुवाद की उस संकल्पना को व्यक्त करता है जिसे ‘पुनःसृजन’ कहा गया है।

शब्द और वाक्य के स्तर पर मूल और अनूदित पाठ का भेद काव्यानुवाद की स्वाभाविक प्रक्रिया का परिणाम है, जो आधुनिक अनुवाद चिंतन में काव्यानुवाद की उस संकल्पना को व्यक्त करता है जिसे ‘पुनःसृजन’ कहा गया है।

“कामायनी” एक विशिष्ट प्रकार की रचना है जिसके अनुवाद के लिए यह आवशयक है कि वह दोनों भाषाओं के साथ-साथ विषयगत, संस्कृतिगत और तत्समी कृत स्रोत भाषा का ज्ञान भी रखे। अतः कामायनी के अनुवादक को इन सभी से अपने को जोड़े रखना अनिवार्य है। दार्शनिक और मिथकों का जैसा प्रयोग कामायनी में है और जिस आधुनिक धरातल

पर वह कविता में संलिष्ट हुआ है, उसे किसी दूसरी भाषा में उसी रूप में उतार पाना कठिन है। जैसे : महाकाल, माया, लीला, शिव शक्ति, महाशक्ति।

इस दृष्टि से दार्शनिक, पौराणिक शब्दावली के स्तर पर 'कामायनी' का अनुवाद सहज नहीं बन पता। किसी भी समाज और संस्कृति में इतिहास परंपरा के रूप में आता है और इस परंपरा में प्रतीकात्मक भाषा सर्वाधिक महत्वपूर्ण बनती जाती है। यह प्रतीकात्मक भाषा पुराणों को व्यक्त करती है, मिथकों का निर्माण करती है तथा पौराणिक संदर्भों को नए संबंध भी देती है।

कामायनी में मानव जीवन से संबंधित निष्कर्ष जीतने महत्वपूर्ण हैं, कथावस्तु और पात्र उतने नहीं। अनुवादक हमेशा मूल मंतव्यों या निहितार्थों का ही अनुवाद काव्य के संदर्भ में करता है। अतः उसे यहाँ कामायनी के अनुवाद में यह पहचानना होगा कि पात्रों, घटनाओं या स्थितियों के माध्यम से प्रसाद कौन-सा अर्थ प्रक्षेपित करना चाहते हैं। तभी कामायनी के अनुवाद के साथ न्याय हो सकता है। ऐसी संभावना अँग्रेजी जैसी एक विजातीय भाषा में न होने के कारण अनुवादक के प्रयासों के बावजूद मूल शब्दावली का समग्र भावार्थ अँग्रेजी अनुवाद में नहीं उभर पाता।

अब बात 'कामायनी' के सर्गों के अनुवाद की। डॉ. साहनी ने मूल (कामायनी) में जितने सर्ग हैं उतने ही अनूदित पाठ में भी रखे हैं। सर्गों के नामों का उन्होने अँग्रेजी में भावानुवाद किया है। 'सर्ग' का अनुवाद उन्होने "बुक" किया है। चिंता- 'रिफ़्लेक्शन', आशा- 'हॉप', कर्म- 'रिच्युअल', निर्वेद- 'नॉन एटाचमेंट', दर्शन- 'विजन', आनंद- 'ब्लिस' आदि।

अँग्रेजी अनुवाद में पहले सर्ग चिंता का अनुवाद "रिफ़्लेक्शन"किया गया है। अँग्रेजी शब्द का अर्थ है विचार चिंतन, परिवर्तन। मूल काव्य में कामायनीकार ने मनु के मन में 'जलप्लावन'होने के बाद भूतकाल की घटनाओं की स्मृति और भविष्य की सोच से उत्पन्न व्याकुलता का चित्रण किया गया है। सर्ग के हिन्दी शीर्षक में यह संदर्भ निहित है जबकि अँग्रेजी अनुवाद में इस आशय का आभास मात्र मिलता है। अंतिम सर्ग 'आनंद'का अनुवाद 'ब्लिस'किया गया है। जिस प्रकार मूल काव्य में 'आनंद' शब्द का अर्थ भौतिक सुख या भौतिक आनंद न होकर उन्नत आध्यात्मिक आनंदानुभव की अभिव्यक्ति करता है उसी प्रकार अँग्रेजी अनुवाद "ब्लिस" शब्द भी दार्शनिक भावना से उत्पन्न इंद्रियातीत आनंद की अनुभूति को प्रकट करता है। अतः अँग्रेजी अनुवाद के अंतिम सर्ग का नामकरण बहुत ही सार्थक बन पड़ा है।

किसी भी अनूदित काव्य कृति की समीक्षा करने के लिए मुख्य रूप से निम्न लिखित तीन दृष्टिकोणों को विश्लेषण का आधार बनाया जा सकता है :

- संरचना के स्तर पर,
- भाव के स्तर पर; और
- अनुवादनीयता के स्तर पर।

मूल काव्य 'कामायनी'के अँग्रेजी अनुवाद की उक्त तीनों स्तरों पर विशेषताएँ इस प्रकार है :

संरचना के स्तर पर

एक झिटका-सा लगा सहर्ष निखरने लगे लुटे-से कौन
गा रहा यह सुंदर संगीत ? कुतूहल रह न सका फिर मौन। (मू.पृ.21)
It gave him an upsetting jolt of joy,
He looked like one entirely looted; who
Is singing this symphonious lovely song?
Curiosity then could not silent be. (अं.पृ.67)

मूल पद्य में कवि प्रसाद ने 'एक झिटका सा लगा'कहकर 'झिटका'शब्द के द्वारा श्रद्धा की वाणी के प्रभाव का वर्णन किया है। अँग्रेजी अनुवाद में इसे 'एन अपसेटिंग जोल्ट ऑफ जॉय'के रूप में अनूदित किया गया है। ऐसा करके मूल पद्य में जिस तरह की भावाभिव्यक्ति हुई है उसे अनुवाद में लाने का प्रयत्न किया गया है। लेकिन अनुवादक पूर्ण रूप में सफल नहीं हो पाये। 'झिटका'शब्द से मनु के मन पर श्रद्धा की वाणी के प्रभाव की तीव्रता का जो अंकन हुआ है वह अनुवाद के 'अपसेटिंग जोल्ट ऑफ जॉय' शब्दों में प्रकट नहीं हो सका।

अनुवादक ने अँग्रेजी भाषियों के बोध के अनुकूल अनुवाद करने का प्रयत्न किया है। फिर भी दोनों भाषाओं की संस्कृति भिन्न होने के कारण भावाभिव्यक्ति में उसे दिक्कत हुई है।

भाव के स्तर पर

अनुवादक द्वारा लक्ष्य भाषा के पाठकों को दृष्टि में रखकर अनुवाद करने का प्रयत्न किया गया है। लेकिन मूल के भाव को प्रकट करने में उन्हे फिर भी दिक्कत हुई है। भाव के स्तर पर इस प्रकार की कठिनाई से उत्पन्न अनुवाद के उदाहरण इस प्रकार है :

उषा सुनहले ईर बरसती सी जयलक्ष्मी सी उदित हुई,
उधर पराजित काल रात्रि भी जल में अंतर्निहित हुई। (मू.पृ.14)
Showering shafts of gold the Morning rose
Like the goddess great of victory;
And in defeat the sable night of doom
Beneath the water's sand and disappeared.(अं.पृ.57)

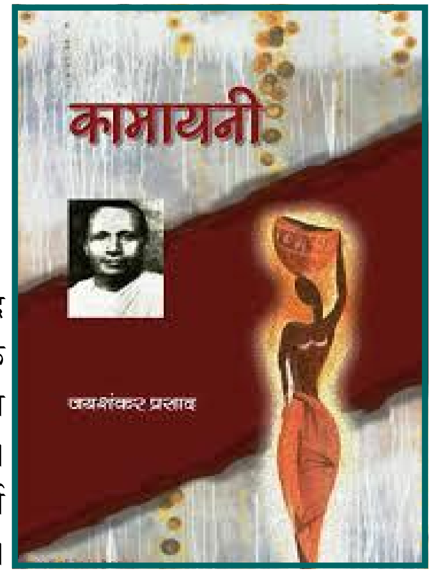

अनुवादक ने मूल की (कवि प्रसाद की) भावना को लेकर 'उषा' शब्द का अनुवाद 'मॉर्निंग'किया है। यहाँ 'उषा' शब्द से जो अर्थ निकलता है वह 'मॉर्निंग' शब्द से पूर्णता के साथ व्यक्त नहीं हो पाता और समय की सूचना भी नहीं मिलती। 'सुनहले तीर'का 'शफ्ट्स ऑफ गोल्ड'अनुवाद किया गया है लेकिन यहाँ मूल का ठीक अर्थ प्रकट नहीं हुआ है। 'कालरात्रि' के लिए भी 'सेबुल नाइट ऑफ डूम' भी मूल अर्थ प्रकट नहीं कर पाता है। संदर्भ की अनुकूलता में 'अंतर्निहित हुई' का अनुवाद 'वाटर्स सैंड अँड डिजएपियर्ड' किया गया है। मूल भाषा का सही अर्थ लक्ष्य भाषा के शब्दों में प्रकट करना कितना कठिन है यह हमें इस अनुवाद से पाता चलता है। कुल मिलाकर मूल पद्य 'उषा'और 'कालरात्रि' के मानवीकरण युक्त भाव का आभास अनूदित पंक्तियाँ नहीं दे पातीं।

अनुवादनीयता के स्तर पर

अनुभवी और भावुक अनुवादक साहनी ने मूल काव्य के भावार्थ और शब्दार्थ को सुचारु ढंग से अपने अनुवाद में लाने का यथासंभव प्रयत्न किया है। मूल और लक्ष्य दोनों भाषाएँ सामाजिक-सांस्कृतिक धरातल पर नितांत भिन्न हैं फिर भी भारतीय संस्कृति को अँग्रेजी पाठकों तक पहुंचाने और समझाने का सराहनीय प्रयास अनुवादक ने किया है। इसमे कहीं कहीं अनुवादक ने अपनी मर्यादा और सीमा को तोड़कर मात्र मूल के भाव लेकर पुनः सृजन भी किया है तथा अनुवाद को लक्ष्य भाषा के पाठक के लिए बोधगम्य बनाने का प्रयत्न किया है। अनुवाद की इस प्रवृत्ति को निम्नलिखित उदाहरण में देखा जा सकता है :

समरस थे जड़ या चेतन सुंदर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती आनंद अखंड घना था। (मू.पृ.135)
All objects conscious or unconscious were
Pervaded by the savor of one life,
And beauty was incarnate every where
And one consciousness was sporting round,
And Bliss intense and undivided reigned.(अं.पृ.215)

अनुवादनीयता की दृष्टि से अँग्रेजी अनुवाद में मूल के कई अंश अनुवादक को पूर्णतः बोधगम्य नहीं हुए जिससे कि उसके अनुवाद का अर्थ पक्ष कमजोर हो गया है। कहीं कहीं अनुवादक अर्थ को तो पकड़ सका लेकिन लक्ष्य भाषा की सीमा के कारण अर्थात लक्ष्य भाषा में उन इकाइयों के अनुपलब्ध होने के कारण वह उन्हे किसी प्रकार से अभिव्यक्त भर कर पाता है। ऐसा करने से कभी उसका अनुवाद आंशिक अर्थ दे पता है तो कभी मूल से एकदम अलग अर्थ देने लगता है।

अनुवाद समीक्षा के धरातल पर ये पाठ कई तथ्यों की ओर संकेत करते हैं। काव्यानुवाद कि लक्ष्य भाषा का विदेशी होना यहाँ बहुत महत्व रखता है। रचना के स्तर पर 'कामायनी'जैसे ग्रंथ के अनुवाद में शैली चयन का उतना महत्व नहीं है जितना दार्शनिक और पौराणिक अर्थ से संबद्धतत्सम शब्दावली को उसी आशय के साथ तत्सम रूप में ही व्यक्त करने का है। अँग्रेजी के पास शब्दों का ऐसा समूह नहीं है अतः तुलनात्मक दृष्टि से अँग्रेजी के शब्द मूल अर्थ की गहराई का एक सतही आभास ही दे पातें हैं। इस प्रकार अनुवाद को चिंतन के प्रमुख सिद्धांत के परिप्रेक्ष्य में भी परखा जा सकता है और तुलनात्मक समीक्षा द्वारा स्त्रोत भाषा और लक्ष्य भाषा की विजातीयता के कारण पाठ में जो गहरा अंतर दिखाई देता है, उनके कारणों की खोज की जा सकती है।

संदर्भ

1. (क) चितिमय चिता धधकती अविरल महाकाल का विषय नृत्य था (मू.पृ.128)

(ख) The Multitudinous pyre incessant flamed
There was the odd dance of destructive Shiva (अं.पृ.205)

2. (क) कौन हो तुम विश्व-माया-कुहक-सी साकार,

(ख) Who are you like the charm incarnate of illusion comical (अं.पृ.92)

3. (क) कर रही लीलामय आनंद महाचिती सजग हुई-सी व्यक्त (मू.पृ.24)

(ख) Awakened manifest the Mind supreme
Is busy in the mystic sport of bliss; (अं.पृ.71)

4. (क) अतिचारी या स्वयं प्रजापति, देव अभी शिव बने रहें ! (मू.पृ.83)

(ख) The ruler himself a transgress or was!
How could the gods remain auspicious now (अं.पृ.157)

5. (क) वह मूल शक्ति उठ खड़ी हुई अपने आलस का त्याग किये (मू.पृ.30)
अंतरिक्ष में महाशक्ति हुंकार कर उठी। (मू.पृ.96)

(ख) The force primordial stood up bouncingly (अं.पृ.80)
The force supernal and omnipotent (अं.पृ.172)

आर्सन वेल्स

व्यक्तित्व

यह बात शायद थोड़ी अटपटी लगे कि एक कालजयी क्लासिक फिल्म बनाकर फिल्मों की दुनिया में पदार्पण करने वाले आर्सनवेल्स सिनेमा की दुनिया में एक नैसिखिया थे। वेल्स तो यह भी नहीं जानते थे कि लॉन्ग शॉट , मिड शॉट और क्लोज अप कब, कहाँ और क्यों लगाया जाता है।

विवेक कुमार
शोध-अध्येता (एम. फिल.)
प्रदर्शनकारी कला (फिल्म और नाटक)विभाग
म.गां.अं.हिं.वि.,वर्धा
मो. +91 9763806773
vivekindelhi@gmail.com

सिनेमाई दुनिया से पहले आर्सन वेल्स -

दुनिया के सर्वश्रेष्ठ फिल्मनिर्देशकों में गिने जाने वाले क्रिस्टोन्ड जार्ज आर्सन वेल्स का जन्म 6 मई सन् 1915 को अमेरिका के केनोसो, विस्कांन्सिन शहर में हुआ। इनकी बहुमुखी प्रतिभा के लक्षण बचपन के दिनों में ही दिखने लगे थे। बच्चे जिस वक्त खेल-कूद की बातें करते है नन्हें आर्सन वेल्स ने तब अपनी माँ से एक म्युजिशियन बनने की इच्छा जाहिर की थी। वेल्स की लगन को देखते हुये पाँच -छः साल की नन्ही उम्र में ही वेल्स को शिकागो की एक म्युजिक ग्रुप में डाल दिया गया जिसमें वेल्स की उम्र का एक भी बच्चा नहीं था और जहाँ सारे कलकार वयस्क थे। यहाँ वेल्स ने म्युजिक को बड़े ही लगन के साथ सीखा। माँ की मृत्यु के बाद पिता ने वेल्स की जिम्मेदारीयों को उठाते हुये वेल्स का दाखिला वूडस्टॉक के टॉड स्कूल में करवा दिया। शायद टॉड स्कूल से ही वेल्स के भविष्य का द्वारा खुलने वाला था। यहाँ वेल्स को थियेटर का माहौल मिला और यहाँ इनकी रूचि गुजरते समय के साथ बढ़ती ही गयी। वेल्स ने इस मौके का भरपूर प्रयोग करते हुये अभिनय, लेखन तथा निर्देशन के गुण सीखे और थियेटर के इस समुंद्र में गहराई तक गोते लगाये।यहाँ आर्सेन वेल्स को रीचर्ड तृतीय, मार्क एंटोनी , एन्ड्रोस्ल्स व लायन जैसे कुछ बेहतरीन क्लासिकल चरित्र निभाने के मौके मिले, जिससे इनके अंदर एक अटूट आत्मविश्वास का निर्माण होता गया। टॉड स्कूल में ही वेल्स की अपनी एक स्टाईल, एक शैली बन गयी थी जो इनकी पहचान भी बन गयी थी। 15 साल की उम्र तक आराम से चल रहे वेल्स के जीवन में उस वक्त एक भूचाल सा आ गया जब उनके पिता की मृत्यु एक होटल में आग लगने से हो गयी। उस वक्त आर्सन वेल्स की उम्र मात्र 15 साल थी।

पिता के मृत्यु के बाद वेल्स टॉड स्कुल को छोड़कर आयरलैंड चले गये और वहाँ वेल्स ने एक बार फिर से थियेटर करना शुरू किया। आयरलैंड में वेल्स ने डबलिंसगेट थियेटर में एक नाटक के लिए 'हिल्टन एडवर्ड' और 'माइकल मॅकलिम्येर' रोल के लिए आडिशन दिये जिसके लिए उन्हें अयोग्य पाया गया और उन्हें रोल दिया गया'ड्युक' का। यह रोल था तो छोटा पर वेल्स ने अपने सशक्त अभिनय से इसे यादगार बना दिया। 18 साल की उम्र में वेल्स द्वारा अभिनीत यह चरित्र इनके कॅरीयर के लिए यह एक टर्निंग प्वाईंट साबित हुई। इस छोटे से चरित्र को वेल्स ने अपने अभिनय से इतना जीवंत कर दिया कि न्यूयार्क टाइम्स ने वेल्स तथा उनके इस चरित्र को अपने अख़बार में विशेष स्थान दिया। ड्यूक के चरित्र को करने के बाद वेल्स एक बार फिर से आत्मविश्वास से और लबरेज हो गये तथा डबलिंस गेट थियेटर के स्टेज के लिए ये एक विश्वसनिय अभिनेता बनकर सामने आये और इस थियेटर ने 'द डेड राइडफास्ट','डेड टेक्स ए हालिडे' और ऑथेलो' समेत अपने अगले कई प्ले के लिए अच्छे चरित्र निभाने को दिये और वेल्स ने भी कभी निराश नहीं किया। हर बारी अपने अभिनय के दम पर दर्शकों और अपने ग्रूप के लोगों के बीच लोकप्रिय होते गए। बाद में हाउसमैन ने फेडरल थियेटर प्रोजक्ट के लिए वेल्स को अपने टीम में शामिल कर लिया जहाँ वेल्स ने

'मैकबेथ','हॉर्स इट्स हैट','द ट्रैजिकल हिस्ट्री ऑफ डा0फास्ट्स','द सेकेंड हरिकेन' जैसे शानदार प्ले में अपने दमदार अभिनय से स्टेज की दुनिया में खुद को एक स्थापित कलाकार के रूप में प्रस्तुत किया।

आर्सन वेल्स को पूरी दुनिया एक बेहतरीन रचनात्मक फिल्म निर्देशक और एक सशक्त फिल्म अभिनेता के रूप में जानती है, लेकिन कई प्रतिभाओं से परिपूर्ण वेल्स विश्व सिनेमा को एक नई पटल की ओर ले जाने से पहले और थिएटर में अपने अभिनय का लोहा मनवा चुके, वेल्स ने रेडियो में काम शुरू किया था। वेल्स सिनेमा आने से पहले रेडियो के द्वारा अपने कलात्मक और शानदार कार्यशैली से रेडियो नाटक को जिंवत कर रहे थे। कहते हैं कि अगर आप के अंदर अपने काम के प्रति जुनुन हो तो कोई भी अवरोध ज्यादा देर तक टिक नहीं सकती। सन् 1937 में आर्सन वेल्स ने जॉन हाउसमैन के साथ मिलकर 'मरक्यूरी थियेटर' नाम से अपनी खुद की थियेटर कंपनी खोली। कुछ ही समय के बाद वेल्स ने मरक्यूरी थियेटर को रेडियो के लिए तैयार किया और सफलतापूर्वक एक के बाद एक कई रेडियो नाटक प्रस्तुत किये। मरक्यूरी थियेटर ने रेडियो के लिए पहला नाटक 'जूलियस-सिज़र' 11 नवम्बर सन् 1937 को प्रस्तुत किया, इसके बाद मरक्यूरी थियेटर ने रेडियो के लिए एक के बाद एक कई सफल नाटक प्रस्तुत किये जिनमें 'द शूमेकर्स हॉलिडे ,''हार्टब्रेक हाउस,''डेन्टान्सडेथ,''फाइव किंग्स' और 'द वार ऑफ द वर्ल्डस ' शामिल हैं। द वार ऑफ द वर्ल्डसके बारे में ,वेल्स के साक्षात्कार और उस समय के आख़बारों के कॉलम देखने से यह पता चलता है की रेडियो पर वेल्स द्वारा प्रस्तुत यह नाटक इतना यथार्थ और जीवंत था कि जब इसका प्रसारण रेडियो पर हो रहा था, स्थानीय लोग इसे सच मान पूरी तरह से डर गये थे। यह जानना भी रोचक है कि इस रेडियो नाटक को आर्सन वेल्स ही प्रस्तुत किया था ।एक दूरदृष्टी और कुछ नया करने का जज़्बा रखने वाले आर्सन वेल्स ने थिएटर और रेडियो के माध्यम से अपनी कला की चमक बिखेरने के बाद बहुत शीघ्र ही सिनेमा की ओर रूख कर लिया।

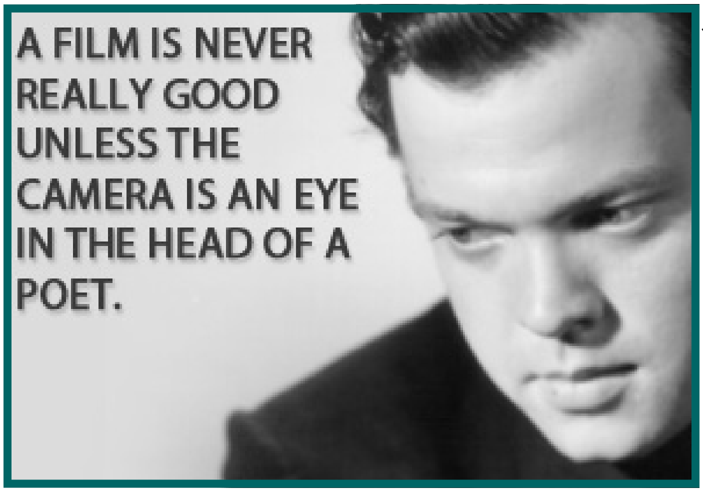

आर्सन वेल्स को हॉलीवुड में पहला मौका आर0 के0 ओ0 स्टूडियो की तरफ से सन् 1939 में मिला। वेल्स को शुरू में ही स्टूडियो ने एक करार के तहत तीन फिल्म बनाने का मौका दिया। एक जूनून के साथ काम करने वाले आर्सन वेल्स ने पहली फिल्म हार्ट ऑफ द डार्कनेस पर काम करना शुरू कर दिया। फिल्म कैसे बनाई जाए इसका पूरा ब्लू प्रिंट तैयार कर लिया गया, कलाकारों का चयन कर लिया गया, शूटिंग लोकेशन तक तय कर लिए गए, लेकिन अभी फिल्म की शुटिंग शुरू होनी बाकी थी। लगातार सफलता का दौर देख रहे वेल्स को उस समय गहरा झटका लगा जब इस फिल्म को रद्द कर दिया गया और फिल्म शूट होने से पहले ही बंद डब्बे में चली गयी। इस फिल्म को इसलिए बंद कर दिया गया क्योंकि इसका बजट काफी अधिक था और यह फिल्म फिर कभी नहीं बनाई जा सकी। इस तरह विश्व सिनेमा के बेहतरीन निर्देशकों की श्रेणी में अपना नाम लिखवाने वाले और कई अन्य कला विधाओं में अपनी रचनात्मकता का लोहा मनवा लेने वाले आर्सन वेल्स को सिने जगत में एक नई पारी की शुरूआत करते ही बहुत बड़ी असफलता हाथ लगी। शायद यह आर्सन वेल्स ही थे जो खुद को शुरूआती झटके से तुरंत उबार ले गए अपनी दूरदृष्टी का परिचय देते हुए दूसरी फिल्म को भी कम समय होने के कारण उस पर काम ही शुरू नहीं किया और आ गए सीधे तीसरी फिल्म की ओर।

आर्सन वेल्स ने अपने सहयोगी के साथ एक 250 पेज की द अमेरिकन नाम से एक पटकथा का निर्माण किया। वेल्स ने इस पटकथा में लगातार कई फेरबदल कर पुनः एक पटकथा का निर्माण किया और इसे नाम दिया सिटिज़न केन ।अपनी पहली ही फिल्म को फ्लोर तक ना ला पाने वाले आर्सन वेल्स की लगभग सभी फिल्में कथ्य, तकनीकि और कलात्मकता की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं लेकिन फिल्म सिटिजन केन को आज भी दुनिया की सर्वश्रेष्ट फिल्मों की पंक्ति में पहला स्थान दिया जाता है। आज भी वेल्स को दुनिया के सर्वाधिक प्रभावशाली फिल्म निर्देशकों की श्रेणी में रखा जाता है। यह बात शायद थोड़ी अटपटी लगे कि एक कालजयी क्लासिक फिल्म बनाकर फिल्मों की दुनिया में पदार्पण करने वाले आर्सन वेल्स सिनेमा की दुनिया में एक नैसिखिया थे। वेल्स तो

यह भी नहीं जानते थे कि लॉन्ग शॉट , मिड शॉट और क्लोज अप कब, कहाँ और क्यों लगाया जाता है । वेल्स को बस अपनी काबिलियत पर पूरा भरोसा था और वह अपने काम के लिए पूरी तरह प्रतिबद्ध थे ।

आर0 के0 ओ0 स्टूडियो ने वेल्स के मूलभूत जानकारी के लिए मरियम गायगर को यह जिम्मेदारी दी कि वो वेल्स को सिनेमा से जुड़ीं मूलभूत बातें बतायें और इस तरह मरियम गायगर से बेसिक बातें सीखने के बाद वेल्स ने सन् 1941 में अपनी पहली फिल्म बनाई सिटिज़न केन । आज फिल्म सिटिज़न केन को फिल्म के विद्यार्थियों के बीच एक अध्याय के रूप में शामिल किया जाता है । वेल्स को यह फिल्म बनाने में जितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा उतनी ही कठिनाइयाँ थी फिल्म को रिलीज करवाने में । काफी अड़चनों और रूकावटों के बाद फिल्म 'सिटिजन केन' को रिलीज किया गया । बाद में इस फिल्म को ऑस्कर के 9 विभिन्न श्रेणियों में नामंकित किया गया और इस फिल्म को ओरिजनल स्क्रिनप्ले के लिए एकमात्र ऑस्कर अवार्ड दिया गया । आर्सन वेल्स ने इस फिल्म से अपनी निर्देशकीय क्षमता के साथ अपने अभिनय कौशल से भी दुनिया भर के फिल्म विद्वानों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया ।वेल्स ने इस फिल्म में मुख्य अभिनेता की भूमिका खुद ही निभाई । यह फिल्म सिनेप्रेमियों और दुनिया भर के तमाम फिल्म समीक्षकों के लिए आज भी सर्वश्रेष्ठ फिल्मों में से एक है कुछ सिने प्रेमियों के लिए सर्वश्रेष्ट फिल्मों की लिस्ट इस फिल्म के बगैर बन ही नहीं सकती है ।

आर्सन वेल्स ने अपने पहली फिल्म से ही फिल्म बनाने के तमाम पारम्परिक धारणाओं को तोड़ते हुये फिल्म बनाने की एक नई शैली बना डाली, उन्होनें परम्परा से हट कर कुछ रचनात्मक करने का निश्चय कर लिया था जैसाकि उन्होनें किया भी । आज भी दुनिया भर के जाने माने फिल्म निर्देशक उनके द्वारा इजाद की गयी शैली का प्रयोग बिना किसी आभार प्रकट किये करते रहते हैं। सिटिजन केन के बाद आर्सन वेल्स ने और भी कई बेहतरीन फिल्मों का निर्माण किया ।सन् 1956 में उन्होनें 'द टच आफ ईविल' का निर्देशन किया जिसे 1956 के ब्रुसेल्स समारोह में सम्मानित किया गया । सन् 1975 में उन्हें अमेरिकी फिल्म इन्स्टीट्यूट ने सम्मानित किया । इसके अलावा इन्हें सन् 1984 डायरेक्टर्स गिल्ड आफ अमेरिका , अमेरिका ने उन्हें सर्वोच्च सम्मान डी.प्रिव्यू ग्राफिक अवार्ड से सम्मनित किया ।आर्सेन वेल्स ने अपने कॅरीयर की शुरूआत एक थियेटर कलाकार के रूप में किया जहाँ उन्हें अपार सफलता हाथ लगी , फिर वेल्स ने थियेटर के साथ-साथ रेडियो के लिए भी काम करना शुरू किया और रेडियो में भी अपनी अवाज और अपने सशक्त अभिनय की बदौलत रेडीयो नाटक को जीवंत किया । वेल्स ने रेडियो पर नाटक प्रस्तुत करने की एक अलग शैली ही पैदा कर दी ।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी वेल्स जादू भी जानते थे और द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान वे युद्ध सैनिकों के लिए जादू का प्रदर्शन भी किया । वेल्स ने कुछ बेहतरीन शार्ट फिल्में भी बनायीं तो साथ ही साथ कुछ डाक्युमेंट्री फिल्मों का निर्माण भी किया इसके अलावा उन्होनें टेलिविज़न के लिए भी कुछ सफल फिल्मों का निमार्ण किया । वेल्स के कई ऐसे प्रोजक्ट अधूरे रहग ये जिस पर वेल्स ने बहुत काम किया था ।थिएटर की दुनिया में अपनी छाप छोड़ने के बाद रेडियो पर अपने यथार्थ अभिनय से हजारों लोगों को डरा देने वाले तथा सिनेमा की एक नई शैली इजाद करने वाले क्रिस्टोन्ड जार्ज आर्सन वेल्स की मृत्यु 10 नवबंर 1975 को 70 वर्ष की आयु में लॉस एंजेल्स में हार्ट अटैक से हुई।

वेल्स द्वारा निर्देशित फिल्में :-

सिटिज़न केन 1941, द मैगनिफिशेंट एमबरसंस 1942, जर्नी इनटू फिअर 1943, दस्ट्रेंजर 1946,द लेडी फ्राम शंघाई 1947, मैकबेथ 1948, ब्लैक मैजिक 1949, ओथेल1952, मि. अर्काडीयन 1955, टच ऑफ ईविल 1958, द ट्रायल 1962, चिम्स एट मिडनाईट1965, द डीप 1970 ।

लेखनी

सृजन

बेटी तो बेटी होती है

एक चीख उठी
और खो गयी
दब कर भीड़ के
पैरों में कहीं !

नज़रे भी पड़ती रही
सूरज भी चढ़ता रहा
तब भी उस मासूम का
कोई सहारा न था

फिर कुछ हाथ उठे
गलियों में शोर हुआ!
परदे पर भी भाईसाहब
फिर TRP का खेल हुआ!

राजनीतिकों ने भी
बना कर सीढ़ी उसे
ऊपर चढ़ने का जतन किया

अरे जंगल है क्या?

लड़की किसी की हो,
बेटी तो बेटी होती है!
आओ मिलकर रोके उन हाथों
को,
जो किसी की आबरू छूती
है !

लोकेश देव
हल्दवानी,नैनीताल

मुट्ठियाँ

बंद मुट्ठी के बीचों-बीच
एकत्र किये स्मृतियों के चिन्ह
कितने सुंदर जान पड़ते हैं....
रात के चादर की स्याह
रंग में डूबा हर एक अक्षर
उन स्मृतियों का,
निकाल रहा है मुट्ठी की ढीली पकड़ से...
मैं मुट्ठियों को बंद करती खुले बालों के साथ
उन स्मृतियों को समेट रही हूँ|
वहीं दूर से आती फीकी चाँदनी
धीरे-धीरे तेज होकर
स्मृतियों को देदीप्यमान कर
आज्ञा दे रही हैं....
खुले वातावरण में विचरों
मुट्ठियों के कैद से बाहर!
और ऐलान कर दो
तुम दीप्ति हो, प्रकाशमय हो
बस यूँ ही धीरे-धीरे
मेरी मुट्ठियाँ खुल गयी
और आजाद हो गई स्मृतियाँ सदा के
लिए !!

दीप्ति शर्मा

तुलिका

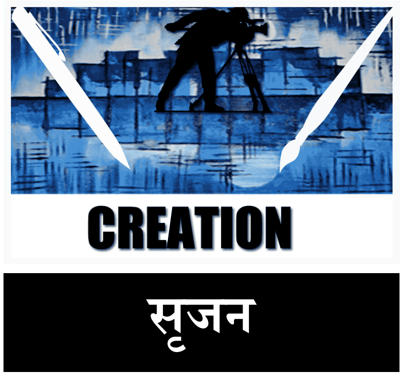

मेघा आचार्य (वर्धा ,महाराष्ट्र)

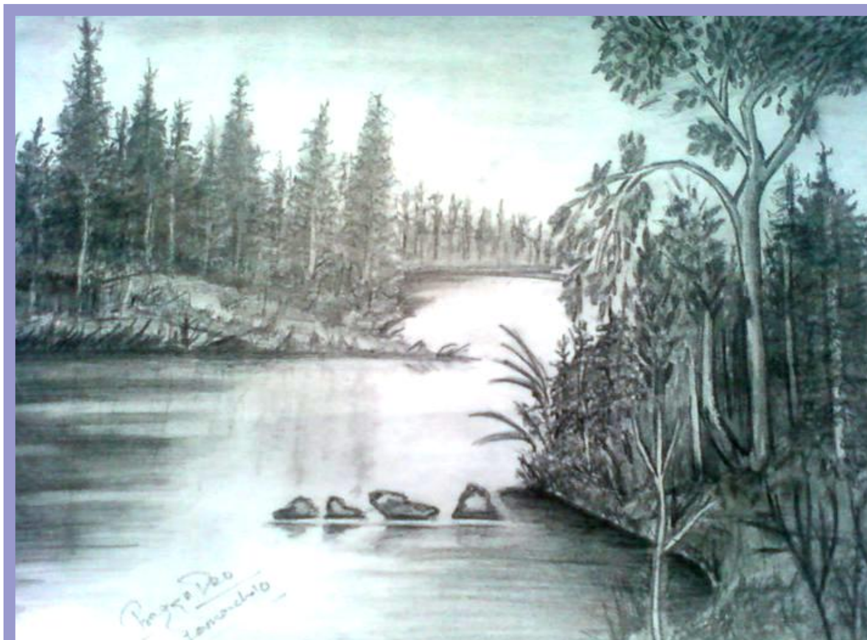

प्रज्ञा देव (नई दिल्ली)

कैमरा

CREATION

सृजन

प्रवीण सिंह (मुंबई)

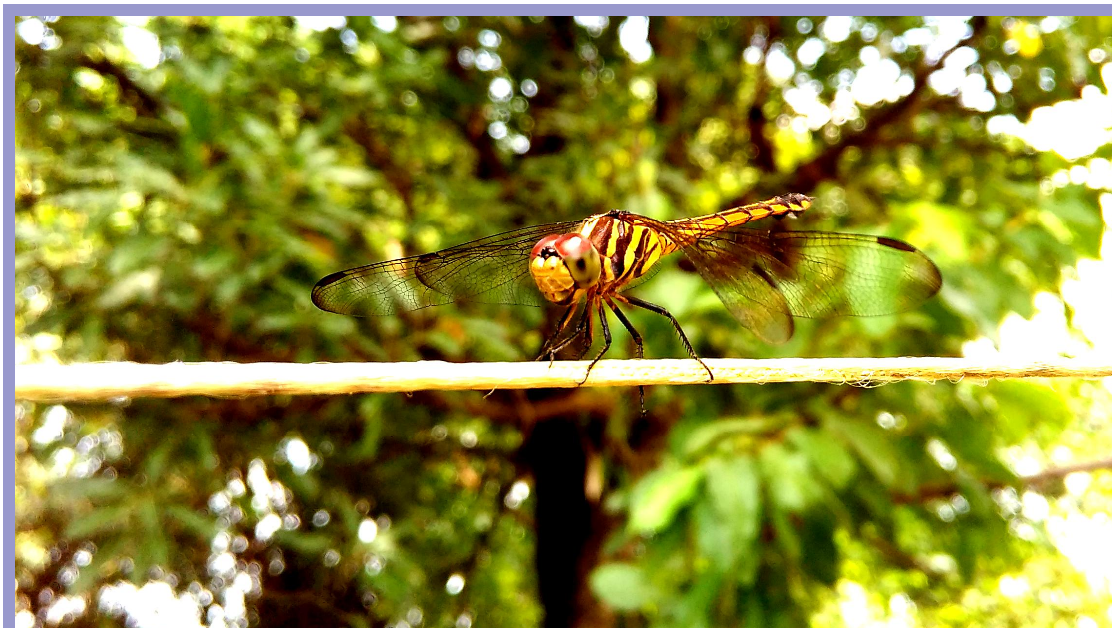

शलिनी सिंह

(रीवा, मध्य प्रदेश)

हिंदी भाषा का सामाजिक संदर्भ

भाषा

समाज में भिन्न स्तरों पर भाषा के रूप में भिन्नता दिखाई देती है। इस सामाजिक स्तर भेद के कारण भाषा के प्रयोग को प्रभावित करता है। भाषा और समाज का अटूट संबंध है। हम जिस समाज में रहते हैं उसके नियमों और मान्यताओं के अनुरूप ही भाषा के प्रयोग करते हैं। हर समाज बाहरी दुनिया को अपने ढंग से देखता है और उसे भाषा में संगठित करता है। इसलिए भिन्न-भिन्न समाजिक स्तरों पर भाषा प्रयोग के स्तर भी भिन्न-भिन्न होते हैं। साथ ही श्रोता के साथ हमारा पारस्परिक संबंध भी हमारे भाषा व्यवहार में विविधता पाई जाती है।

भाषा समाजिक वस्तु है

भाषा की संरचना द्वारा हम यह देख-समझ सकते हैं कि उस समाज का व्यक्ति या समाज स्वयं दुनिया को किस रूप में देखता है। इस बात को समझने में किसी भाषा के नाते-रिश्ते के शब्द और संबोधन शब्द हमारी सहायता करते हैं। यह व्यावहारिक नियम भारत को अन्य संस्कृति से अलग करती है।

भाषा हम कहाँ सीखते हैं ? कहाँ इसका प्रयोग करते हैं ? निशचित ही समाज में! हम जिस समाज में रहते हैं उसी समाज की भाषा हम सीखते हैं। इसलिए भाषा को सीखने में 'परिवेश' बहुत महत्व रखता है। परिवेश का अर्थ है- जिस समाज में हम रहते हैं उसकी व्यवस्था, उसके मूल्य, उसकी संस्कृति, उसके लोग आदि। इसी परिवेश के आधार पर हर भाषा अपना रूप विकसित करती है और अपनी अलग पहचान बनाती है। उदाहरण के माध्यम से समझ सकते हैं- हिंदी भाषा और अंग्रेजी भाषा-समाज दो भिन्न भाषा समाज है। हिंदी भाषा के शब्द – जैसे, मौसी, बुआ, चाची, मामी आदि शब्द के अंग्रेजी भाषा के एक शब्द 'Aunt' होता है। भाषा की संरचना देख कर हम उस भाषा समाज की संरचना का अनुमान कर सकते हैं।

भाषा और समाज के अंतसंबंधों को इस प्रकार समझ सकते हैं- " समाज ऐसे लोगों का समूह है जो किसी निश्चित उदेश्य या उदेशयों की पूर्ति के लिए मिल-जुलकर रहते हैं "। भाषा का प्रयोग उच्चरित या लिखित इन दो माध्यम से अपनी बात दूसरों तक पहुँचते हैं। भाषा-समाज को और समाज-भाषा को निरंतर प्रभावित और परिवर्तित करते रहते हैं। भाषा की परिभाषा में समाज का संदर्भ भी जुड़ा होता है। इसलिए भाषा का अध्ययन करते समय भाषा के व्याकरण के नियमों पर ही नहीं, भाषा के समाज में प्रयोग के नियमों की जानकारी पर भी बल दिया जाता है।

शिल्पा
पी-एच.डी हिंदी (अनुवाद प्रौद्योगिकी)
महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्व विद्यालय, वर्धा (महा.)
guptapuja971@gmail.com

भाषा और समाज के बीच कई तरह के संबंध हैं

पहला संबंध सामाजिक-संरचना भाषा-संरचना या भाषा-व्यवहार को निर्धारित और नियंत्रित करती है। भाषा और समाज के संबंधों को देखने के पीछे कारण यह है कि समाज में वक्ता-श्रोता की आयु, (बच्चों का भाषा-प्रयोग व्यस्कों से भिन्न होता है), क्षेत्र (दिल्ली में रहने वाले लोग की हिंदी पटना में रहने वाले की हिंदी से भिन्न है), समाजिक वर्ग (उच्च वर्ग का भाषा प्रयोग निम्न वर्ग के भाषा प्रयोग से भिन्न होता है) आदि भेदभाषा प्रयोग में भेद में मिलते हैं। इन भेदों में शब्दों का चयन, वाक्यों का

चयन सभी समाजिक नियमों से बंधे होते हैं।

भाषा और समाज के बीच भाषायी-संरचना, समाजिक-संरचना या समाजिक व्यवहार को निर्धारित और नियंत्रित करती है। उदाहरण – जिन लोगों को हम आदर देते हैं उनके लिए 'आप' का प्रयोग करते हैं। बड़े लोगों के आने के बाद अगर हम बैठें हैं तो खड़े हो जाते हैं।

भाषा और समाज एक दूसरे को प्रभावित भी करते हैं।

भाषा क्षमता और भाषा व्यवहार को भी समझते हैं।

भाषा–क्षमता और भाषा-व्यवहार

भाषा-क्षमता का सामान्य अर्थ हम यहाँ भाषा की जानकारी के रूप में तथा भाषा व्यवहार का सामान्य अर्थ भाषा प्रयोग के रूप में लेते हैं। जब हम भाषा का अध्ययन भाषा-व्यवहार के संदर्भ में करते हैं तो भाषा के समाजिक संदर्भ को मान्यता मिल जाती है। भाषा अपने व्यवहार में विभिन्न रूप ग्रहण करती है। इसलिए आज के वैज्ञानिक यह मानते हैं की भाषा का व्याकरण लिखना आसान काम नहीं है। व्याकरण जो लिखा जाता है वह व्यावहारिक भाषा का व्याकरण नहीं होता। जो व्यक्ति अपने भाषा को बोलता है वह अपनी भाषा के बारे में कहीं अधिक जानता है। भाषा-प्रयोग के इन नियमों को ही समाज के सदस्य आपस में समान रूप से बांटते हैं। इन्हीं ज्ञान के आधार पर संप्रेषण होता है। वक्ता-श्रोता, परिस्थिति और संदर्भ के अनुसार हमारा भाषा व्यवहार बदलता है।

भाषा समाज और संस्कृति

भाषा वह है जिसका प्रयोग लोग करते हैं। लोग समाज में रहते हैं और लोगों की अपनी संस्कृति होती है। संस्कृति और भाषा का संबंध भी अटूट है। व्यक्ति के संस्कृति का बोध हमें उसके संगीत, साहित्य, कला आदि से जान पाते हैं। भाषा की संरचना द्वारा हम यह देख-समझ सकते हैं कि उस समाज का व्यक्ति या समाज स्वयं दुनिया को किस रूप में देखता है। इस बात को समझने में किसी भाषा के नाते-रिश्ते के शब्द और संबोधन शब्द हमारी सहायता करते हैं। यह व्यावहारिक नियम भारत को अन्य संस्कृति से अलग करती है। जैसे –'क्यों जी, सुनो जी, ए जी, सुनते हो, आदि। अपरिचित व्यक्ति या औपचारिक स्थिति में जी साहब, महोदय जैसे, संबंधनों का प्रयोग हमारी भाषा को हमारी संस्कृति से जोड़ता है। बुजुर्ग महिला ले लिए 'माँजी, दादी, काकी,चाची,मौसी आदि संबोधन का प्रयोग करते हैं। चाचा, काका, मामा, बाबा आदि बुजुर्ग पुरुषों के लिए। हिंदी भाषा में हमें अनेक ऐसे तत्व मिलते हैं जो प्राकृतिक जगत से हमारे अंतरंग संबंधों को भी व्यक्त करते है। ब्राह्मण के लिए महराज, अहीर के लिए सरदार,बनिया के लिए साब जी ,कायस्थ के लिए मुंशी जी आदि संबोधन शब्द हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं की हर भाषा भिन्न होती है। उदाहरण- अंग्रेजी शब्द- ब्रदर –इन –ला जबकि हिंदी में साला, बहनोई, नंदोई, देवर जेठ भिन्न-भिन्न शब्द है। अत : हिंदी भाषा भाषियों के लिए इन सभी संकल्पनाओं को व्यक्त करने में सुविधा होगी। लेकिन अंग्रेजी भाषा में कठिनाई होगी। संस्कृति और भाषा के इस संबंध को अन्य उदाहरण द्वारा भी समझने का प्रयत्न कर सकते हैं। भारत में असम के गारो समुदाय के पास चींटी, चावल, डोलची के विभिन्न आकार-प्रकारों के लिए भिन्न शब्द हैं। ये उनकी संस्कृति के लिए बहुत महत्वपूर्ण है ।चींटी के विभिन्न प्रकारों के उनकी भाषा में भिन्न नाम हैं पर उनके पास अंग्रेजी शब्द 'ant' का कोई पर्याय नहीं है। यदि हम हिंदी के नाते-रिश्ते की शब्दावली की तुलना अंग्रेजी की नाते-रिश्ते की शब्दावली से करें तो हमें ऐसा ही भेद मिलेगा। अंग्रेजी भाषा ने रिश्तों की शब्दावली का साधारण करण उन्हें एक शब्द में बांध दिया है जबकि हिंदी भाषा समाज हर रिश्ते को महत्व देता है। अत: हर रिश्ते के लिए हिंदी में अलग-अलग शब्द हैं।

भाषा –समुदाय

जिस समाज में हम रहते हैं उसकी एक भाषा होती है। हम स्वयं उस समाज के सदस्य होते हैं । जिस समाज के हम सदस्य होते हैं, उसी समाज की भाषा हम सबसे पहले बोलते-सीखते हैं। हमारी ही तरह अन्य लोग इस समाज के सदस्य होते हैं जो अनिवार्य रूप से इस समाज की भाषा बोलते-समझते हैं। एक भाषा बोलने-समझने वाले ऐसे ही लोगों के समूह को भाषा-समाज या भाषा-समुदाय कहा जा सकता है। इस प्रकार भाषा व्यक्ति और समाज दोनों की धरोहर होती है। अत: हम यह अपेक्षा कर सकते हैं कि एक भाषा समुदाय का एक व्यक्ति और समाज के अन्य व्यक्तियों के समान ही भाषा व्यवहार करेगा। अर्थात वह समान भाषा,समान बोली या समान रूपों को बोलेगा। एक समुदाय मेन प्रचलित समान भाषा,समान बोली और समान रूपों को हम कोड कह सकते हैं। कोड का अर्थ हुआ- भाषा

का स्वतंत्र रूप,बोलियों का स्वतंत्र रूप,बोली मिश्रित भाषा रूप आदि के वे विविध प्रयुक्त भाषा रूप,जो समुदाय में प्रचलित होते हैं। इस बात को समझने के लिए हिंदी भाषा के उन प्रचलित कोडों को देखा जा सकता है जो हिंदी भाषा समुदाय के सदस्यों के बीच प्रचलित हैं।इन कोडो को नीचे के आरेख द्वारा समझ सकते हैं।

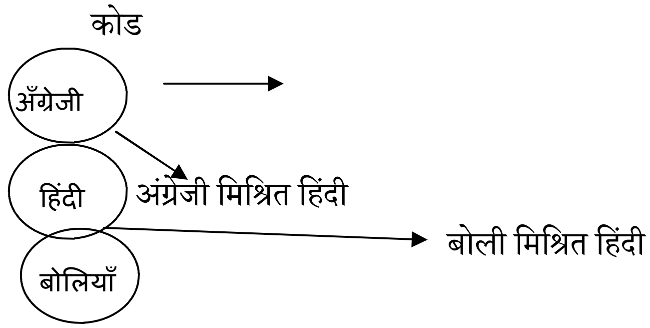

आरेख से यह स्पष्ट होता है कि हिंदी भाषा-भाषी समुदाय के सदस्यों के बीच पाँच प्रमुख कोड प्रचलित है। पहला-उच्च शिक्षित वर्ग, दूसरा- निम्न वर्ग, तीसरा – मध्य वर्ग, चौथा- मध्य वर्ग के शिक्षित समुदाय और उच्च वर्ग के शिक्षित समुदाय, पाँचवा– बोली बोलने वाले लोगों के वर्ग।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि भाषा समुदाय जो आधार अपनाते हैं वे अपनी प्रकृति में नितांत भाषायी नहीं होते, सामाजिक होते हैं। हिंदी भाषा समुदाय में प्रचलित कोडों के संदर्भ में भी ऐसा महसूस किया गया है। अंग्रेजी भाषा भी इस समुदाय में एक कोड है औए हिंदी की बोलियां भी कोडों के रूप में प्रचलित हैं।पर सभी की हिंदी भाषा समुदाय का सदस्य स्वीकार करते हैं। इसका कारण भाषायी नहीं, सामाजिक है। इसे ही समाजिक पहचान निर्मित होते हैं। इन स्तरों को समाजिक-स्तर-भेद भी पाई जाती है।

सामाजिक स्तर भेद के आधार- समाज के स्तर भेद को निम्नलिखित आधारों पर देखा जाता है-

1. **शिक्षा,**
2. **वर्ग,**
3. **व्यवसाय**
4. **पद।**

भारतीय समाज में शिक्षा सर्वसुलभ नहीं हैं। इसलिए यहाँ उच्च शिक्षित, अर्ध शिक्षित, सामान्य शिक्षित और अशिक्षित जैसे स्तर-भेद शिक्षा के आधार पर मिलते हैं। हिंदी में भाषा समुदाय के सदस्यों के शब्द चयन के आधार पर हम उनके शैक्षिक स्तर का अनुमान कर सकते हैं।

समाज अनिवार्य रूप से वर्गों में विभाजित होता है। यह समाज को चार वर्गों में बांटती हैं- ब्राहमन, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। यह विभाजन कार्य पर आधारित था।

भारतीय समाज में सामाजिक स्तर भेद का तीसरा आधार व्यवसाय है। जो व्यक्ति जिस व्यवसाय से जुड़ा होता है उसकी भाषा में व्यवसाय से संबंधित शब्द और अभिव्यक्तियाँ सहज ढंग से पाई जाती है। जैसे- डॉक्टर,इंजीनियर,वकील,बढ़ई, आदि की भाषा में इन व्यवसायों से जुड़े भाषायी तत्व अपने आप आ जाते हैं।

सामाजिक स्तर-भेद का पदगत आधार हमें हिंदी संबोधनों के प्रयोग में भी दिखाई देता है। संबोधन के रूप में भी सामाजिक पद भेद दिखाई देता है। जैसे- साहब, बाबू, महोदय, जी, श्रीमती, आदि संबोधन पाने वाला व्यक्ति आदर पाता है। हिंदी में तू, तुम, आप का भेद भी समाज संदर्भित है अर्थात इन तीनों का प्रयोग सामाजिक स्तर भेद को व्यक्त करता है।

औपचारिक –अनौपचारिक भाषा प्रयोग

समाज में एक ही व्यक्ति कई भूमिकाएँ निभाता है। कभी वह पिता की भूमिका में पुत्र से बातचीत करता है और कभी पुत्र की भूमिका में अपने पिता से। कभी वह कर्मचारियों से बातचीत करता है तो कभी अपने उच्च अधिकारी से। कभी वह किसी अनजान व्यक्ति से पहली बार वार्तालाप करता है तो कभी अपने मित्र से। इस प्रकार के हमारे सामाजिक संबंध हमारे भाषा प्रयोग को भी प्रभावित करते हैं। हर भूमिकाएँ में वह अलग-अलग भाषा का प्रयोग करते हैं।

शिष्टाचार एवं विनम्रता का सामाजिक संदर्भ

संबोधनों तथा नाते-रिश्ते की शब्दावली के शब्द का भाषा के रूप में प्रयोग कर समाज में प्रयोग करते हैं।इसी आधार पर हम उनसे आदर, आत्मीयता, विनम्रता शिष्टता, कठोरता आदि का भाव प्रकट करते हैं। हम क्या कहते हैं,इससे जरूरी कैसे कहते हैं, इसका भी समाज के लोगों पर असर पड़ता है।

अत: हम कह सकते हैं कि भाषा का व्यवहार हम समाज में करते हैं इसलिए भाषा आवश्यकतानुसार अपना रूप बदलती रहती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि समाज अनेक स्तरों में बंटा होता है और इसी सामाजिक स्तर भेद के कारण भाषा में भेद दिखाई देता है। भाषा हमारी सामाजिक और सांस्कृतिक संरचना को भी व्यक्त करती है। स्तर भेदों से संबंध सभी भाषा प्रयोग यह सिद्ध करते हैं कि भाषा और समाज के बीच न केवल अभिन्न संबंध होता है,बल्कि भाषा तभी जीवंत मानी जाती है, जब वह समाज के वास्तविक क्षेत्र में प्रयुक्त होकर सामाजिक प्रयोजनों को व्यक्त करती है।संबोधनों के चयन में कई सामाजिक घटक कार्य करते हैं।इनमें वक्ता-श्रोता का आपसी संबंध, पद और आयु,व्यवसाय आदि प्रमुख्य हैं। समाज द्वारा निर्धारित भाषा प्रयोग को सामाजिक शैली कहा जाता है। वक्ता तथा श्रोता के सामाजिक संबंधों को मूलत यहाँ औपचारिक तथा अनौपचारिक रूप से वक्त किया जाता है। भाषा जीवंत तभी मानी जाती है, जब व्यवहार के स्तर पर उसके अनेक समाज संदर्भित प्रयोग होते रहते हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1.गोस्वामी, कृष्ण, *अनुवाद विज्ञान की भूमिका* : प्रकाशक-राजकमल प्रकाशक,नई दिल्ली 2012।

2.गोदरे, विनोद, *प्रयोजनमूलक हिंदी*:वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली 2007।

3. पाण्डेय, कैलाश : *प्रयोजनमूलक हिंदी की नयी भूमिका* , लोकभारती प्रकाशन 2007।

4.श्रीवास्तव,रवीन्द्रनाथ,तिवारी,भोलानाथ, *व्यावहारिक हिंदी* : वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली, 2007।

वाहरू सोनवने की दो कविताएँ

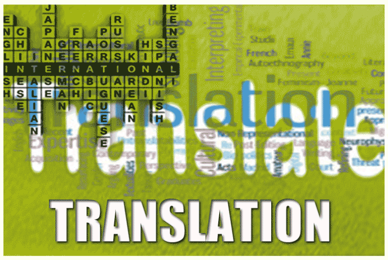

अनुवाद

गोधड – सुगावा प्रकाशन, पुणे
कवि – वाहरू सोनव
प्रथम आवृति – मार्च 2006

1. (मूल भिलोरी कविता का मराठी अनुवाद – मराठी 'तेव्हा')

1. (मूल भिलोरी 'चिलम' का मराठी अनुवाद – मराठी 'चिलीम')

डॉ. मिलिंद पाटिल
UGC PDF
(अनुवाद अध्ययन विभाग)
महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्व विद्यालय, वर्धा (महा.)
संपर्क – 09860663288, 09158423326
drmilindpatil@hotmail.com

तब

ऐसा क्यों हैं बाबा?
कोई पूछे तो
गाल हो जाता है लाल,
या तो जेल में ठूँस दिया जाता है !
उन्हें कुछ भी करने की आझादी है
और
हमारा एक शब्द भी उच्चारित करना
गलत!!
उनकी किसी गलती को
अनदेखा करना ही ठीक है
कुछ देख लिया? तो भूल जाना ही
ठीक है
चुपचाप
कुछ भी सहना!!
तभी आज का जमाना
अच्छा कहता है
गरीबों को ....!!!!

चिलम

चिलम का धुआँ
हवां में उड़ाता...
और
हाथ पाव हिलानेवाला
भूखा जीव
बड़ी देर से
लगातार
देखता रहता
चिलम के धुएँ की ओर
निराश होकर
फिर
दूसरा कश छोड़ते हुए....

वैसे यह उसका रोज़ का काम है....!!!!!!

पटकथा लेखन : मूलभूत परिचय व प्रयोग

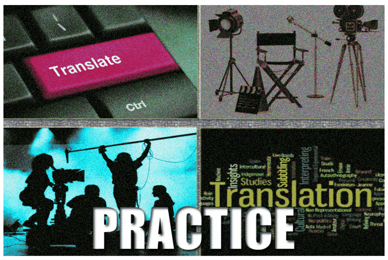

सिद्धांत व व्यवहार

इस स्तंभ में इस बार फिल्म लेखन की मूलभूत जानकारी प्रदान की जा रही है। उदाहरण के लिए हमने कथा सम्राट मुंशी प्रेमचंद की चर्चित कहानी 'मंदिर' को आधार बनाया है।

संपादक

प्रवीण सिंह चौहान
पटकथा लेखक व सिनेमैटोग्राफर
संपर्क - 9763706428
praveenkrrish66@gmail.com

विचार [Idea]–

एक सोच या सिंगल पॉइंट जिस पर फिल्म बनाई जानी है।

विचार ही वह मूल बिन्दु है, जहां से किसी भी काम की शुरुआत होती है। कुमुद नागर के शब्दों मे 'विचार कभी किसी और व्यक्ति से, किसी रचना या कलाकृति से अथवा प्राकृतिक दृश्यावली से भी पैदा हो सकता है। इससे ये भी आशय नहीं लेना चाहिए कि केवल इसी प्रकार के विषय नाटक के लिए उपयुक्त होते हैं। विज्ञान कथाएँ ,साहित्यिक घटनाएँ, कोई दिलचस्प व्यक्तित्व –कोई भी विषय आप चुन सकते है। '

मंदिर कहानी का विचार स्रोत

मंदिर कहानी का विचार प्रेमचन्द्र जी को किसी घटना से आया होगा। उस समय समाज में कई सामाजिक बुराइयाँ व्याप्त थी। निम्न वर्ग के लोगों का मंदिर मे प्रवेश वर्जित था। अशिक्षा तो बहुत बड़ी समस्या थी। हो सकता है ये घटना या इससे जुड़े कुछ वाकये घटित हुए रहें हो या फिर सामाजिक बुराइयों के परिणाम से अवगत कराने हेतु यह विचार प्रेमचंद जी के मस्तिष्क मे आया हो।

प्रधान स्वर [theme] -

विचार/सोच दो-तीन लाइंस में थीम या कान्सैप्ट के रूप में विकसित होगा। यह कहानी की आउटलाइन होती है।

हमारे आस-पास जितनी भी घटनाएँ घटती है या जो भी कहानियाँ बनती है ,उन सभी का कुछ न कुछ प्रधान स्वर या थीम अवश्य होता है। प्रधान स्वर का तात्पर्य है कहानी की आत्मा। प्रधान स्वर कहानी का वह सुर होता है जिससे हटाने पर कहानी बेसुरी हो जाती है। यह एक तरह से नैतिक संदेश की तरह होता है जो कहानी मे छिपा भी हो सकता है या प्रकट रूप मे भी हो सकता है।

मंदिर का प्रधान स्वर [थीम] –

अशिक्षा ,भेद-भाव , मातृ प्रेम।

आधारिका[premise] -

थीम से मिलता जुलता शब्द है आधारिका। यह कहानी के आधार स्तम्भ की तरह होता है। यह थीम से भिन्न है। थीम हमे यह बताता है कि हम कहानी मे क्या कहना चाहते है जबकि आधारिका यह बताती है कि हम कथ्य को कैसे कहना चाहते है।

मंदिर की आधारिका [प्रिमाइज] :

अशिक्षा और छुआ-छूत के कारण एक बच्चे की जान चली जाती है। ममता की वजह से माँ की भी जान चली जाती है।

विचार का विस्तार [One minute Story]-

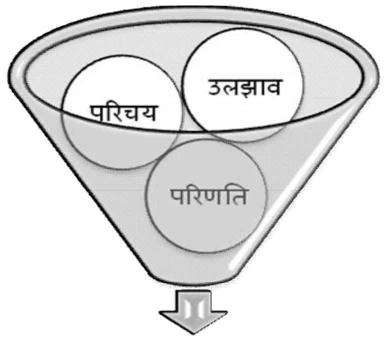

वन मिनट स्टोरी

वन मिनट स्टोरी से आशय है ऐसी कहानी जो एक मिनट मे पढ़ी या सुनी जा सके। यह विचार के आगे की घटना है ,जिसमे कहानी के मुख्य पात्र निर्धारित हो जाते हैं। मुख्य घटनाएँ सुनिश्चित हो जाती हैं, अर्थात परिचय ,उलझाव व परिणति की यात्रा किस प्रकार होगी।

मंदिर – वन मिनट स्टोरी

सुखिया का बेटा जियावन बीमार होता है। सुखिया भगवान से मन्नत मांगती है,जियावान ठीक हो जाता है। शाम के वक्त दुबारा उसकी तबीयत खराब होती है। वो मंदिर जाती है, वहाँ उसे प्रवेश नहीं करने दिया जाता। पुजारी जी उसे पैसे लेकर एक जंतर देकर वापस भेज देते है। आधी रात मे जियावन की तबीयत ज्यादा खराब हो जाने पर सुखिया उसे लेकर फिर से मंदिर जाती है। मंदिर का ताला तोड़ कर अंदर जाती है। पुजारी जी शोर मचाते है जिससे लोग इकट्ठे हो जाते है। लोग सुखिया को मारने पीटने लगते है। मार-पीट मे जियावन नीचे गिर जाता है उसके प्राण निकाल जाते हैं। यह देखा कर सुखिया के भी प्राण निकल जातें हैं।

-:स्टेप आउट लाइन:-

जैसा कि शब्द से प्रतीत होता है ,स्टेप आउट लाइन स्टेप्स मे कही गई कहानी है। स्टेप आउट लाइन से आशय है पर्दे पर दिखने वाली दृश्य श्रखलाओं का संक्षिप्त विवरण। अर्थात किस दृश्य मे कौन सी घटना दिखायी जानी है और उस दृश्य का संयोजन किस प्रकार से होना है। इसके अतिरिक्त किस दृश्य में कौन कौन से महत्वपूर्ण संवाद होंगें और वो किस अंदाज मे बोले जाएंगे , इसका वर्णन भी इसमे किया जाता है।

-:स्टेप आउट लाइन की सार्थकता:-

स्टेप आउट लाइन रोड मैप की तरह होता है जिसकी सहायता से हमें कहानी की दिशा का पता चलता है। स्टेप आउट लाइन पूरी तरह से फिल्म के सिनेमाई पक्ष को ध्यान में रखा लिखा जाता है। इसे पढ़ लेने के बाद मस्तिष्क में फिल्म का पूरा खाका तैयार हो जाता है। ठीक उसी तरह जैसे किसी मकान का नक्शा देख कर यह पता चल जाता है कि कहाँ पर क्या होगा।

स्टेप आउट लाइन पटकथा की नीव होती है। यदि स्टेप आउट लाइन सही तरीके से तैयार हो जाती है तो पटकथा मे फेरबदल की गुंजाइश कम से कम हो जाती है। एक बार स्टेप आउट लाइन बन जाने पर ,संवाद अपने आप ज्यादा विश्वसनीय रूप से पन्नों पर और चरित्रों में आते जातें हैं क्योंकि हमे यह पता होता है कि चरित्र क्या कर रहे हैं और कहाँ जा रहें हैं।

पटकथा

"फिल्म एक छवि है, फिल्म शब्द है, फिल्म गति है, फिल्म नाटक है, फिल्म संगीत है- फिल्म का मुश्किल से एक मिनट का टुकड़ा भी इन सब बातों को एक साथ दिखा सकता है।"

सत्यजीत राय

किसी भी सफल फिल्म का आधार उसकी पटकथा होती है। पटकथा या स्क्रीनप्ले का अर्थ है लेखक का वृस्तृत विजूअलाइजेशन। कथाकार अमृत लाल नागर इसे कागज पर फिल्म बनाना भी कहते है। इस कार्य मे दृश्यिक कल्पना का ही महत्व है। कहानी स्पष्ट हो जाने पर पात्रों को उनके परिवेश और पृष्ठभूमि के साथ अपनी समस्या से जूझने दें। अपनी कल्पना से उन सारे क्रियाकलापों को हवा देते रहें और अपने मनमंच पर घटने वाली उनकी सारी गतिविधियों को कागज पर उतारते रहें। यही पटकथा है। पटकथा जितनी विस्तृत और गठी हुई होगी फिल्म उतनी ही सुन्दर और प्रभावी होगी।

पटकथा क्या है ?

पटकथा के अर्थ मे ज़्यादातर दो अंग्रेज़ी शब्द प्रयोग मे लाये जाते है- 'सिनेरिओ' और 'स्क्रीनप्ले'। A dictionary of cinema के अनुसार इन शब्दों के अर्थ इस प्रकार हैं –

Scenario (n) – An outline for a Screenplay.

Screenplay (n) – The script for a movie, including descriptions of scenes and some camera directions.

पटकथा लेखक की विस्तृत दृश्य-श्रव्य कल्पना [विजुअलाईजेशन] है जो यह बताती है कि फिल्माने के बाद संबन्धित घटना या कहानी पर्दे पर किस तरह नजर आएगी।

"पटकथा चित्रों द्वारा कही गई एक कहानी है।"

-सीड फील्ड

वस्तुतः पटकथा लेखन एक यात्रा है, जिसकी शुरुआत विचार [Idea] से होती है। तदुपरान्त वह अनेकानेक रास्तों को पार करती हुई पटकथा रूपी मंजिल पर पहुँचती है।

-:शूटिंग स्क्रिप्ट:-

शूटिंग स्क्रिप्ट पटकथा का और विस्तृत, सुनिश्चित और ओवररिटेन वर्जन होता है। शूटिंग स्क्रिप्ट स्क्रीन राइटर द्वारा नहीं लिखी जाती। यह निर्देशक द्वारा सिनेमैटोग्राफर के साथ मिल फिल्म के लिए आवश्यक शॉट प्लान और आइडियाज पर चर्चा कर लिखी जाती है। शूटिंग स्क्रिप्ट से आशय ऐसी पटकथा से है , जिसमे पात्रों की स्थितियों के साथ साथ सुनिश्चित कैमरे की गतिविधियां भी दर्शायी जाती है। प्रत्येक दृश्यों को छोटे छोटे हिस्सों में तोड़ कर प्रत्येक हिस्से के साथ कैमरे की गतिविधियां[precise cinematography terminology] लिख दी जाती हैं। फिल्म से जुड़े ज़्यादातर निर्देशक शूटिंग प्रारम्भ होने से पहले शूटिंग स्क्रिप्ट तैयार कर लेते हैं।

स्टोरी बोर्ड और शूटिंग स्क्रिप्ट एक नजरिए से समान हैं मुख्य अंतर यह है की स्टोरी बोर्ड दृश्य[pictorial] रूप में होता है जबकी शूटिंग स्क्रिप्ट लिखित [written] रूप में।

यदि ऊपरी तौर पर देखा जाए तो शूटिंग स्क्रिप्ट और स्क्रीन प्ले के बीच मुख्य अंतर यह है कि – स्क्रीन प्ले एक टेल्लिंग टूल है जबकी शूटिंग स्क्रिप्ट प्रोडक्शन टूल है।

शूटिंग स्क्रिप्ट की प्रक्रिया :-

ज़्यादातर लोग पटकथा में ही खाली जगह पर कैमरे की गतिविधियों को लिखकर अपना काम चलाते है लेकिन शूटिंग स्क्रिप्ट की अपनी एक प्रक्रिया होती है जो इस प्रकार है :-

- पहला स्टेप है प्रत्येक सीन का ओब्जेक्टिव स्टेटमेंट लिखना। इसमे यह बात स्पष्ट होनी चाहिये कि सबजेक्ट कौन है , कहानी किस बारे में है और निर्देशक दर्शकों तक क्या कन्वे करना चाहता है।

ओब्जेक्टिव स्टेटमेंट में निम्न प्रश्नो का उत्तर होना चाहिए –

Who – सबजेक्ट what- एक्शन when – समय where – लोकेशन Why –जिस्ट

- दूसरा स्टेप है शॉट्स की लिस्टिंग जिसे फिल्माने की योजना बनाई गई है। प्रत्येक शॉट का पूर्ण डिसक्रिप्शन जैसे – शॉट कौन सा होगा और एंगेल कौन सा होगा। पॉइंट ऑफ फोकस क्या है और अन्य लाइटिंग कंडीशन या रिक्वायरमेंट।

यह बात हमेशा ध्यान में रखनी है की हम कभी भी कुछ भी परिवर्तित कर सकते है। कोई भी नियम तोड़ सकते हैं लेकिन जरूरत होने पर।

अनुवाद का सैद्धांतिक संदर्भ

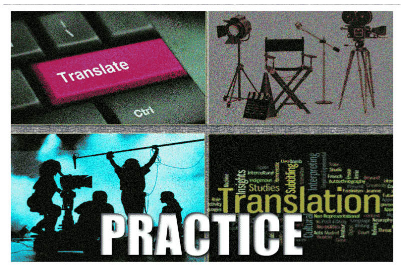

सिद्धांत व व्यवहार

इस स्तंभ में इस बार अनुवाद सिद्धांत की मूलभूत जानकारी प्रदान की जा रही है।

संपादक

मेघा आचार्य
पीएच. डी. शोधार्थी
(अनुवाद अध्ययन विभाग)
महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्व विद्यालय, वर्धा (महा.)
acharyamegha20@gmail.com

अनुवाद आज प्रत्येक कार्यक्षेत्र में न केवल अपनी पैठ बना चुका है बल्कि अपनी उपादेयता भी प्रमाणित कर चुका है| आज हर स्तर पर हम अनुवाद के आग्रही और आश्रयी है| अनुवाद ने अपनी उपस्थिति की अनिवार्यता वर्तमान और भविष्य दोनों में ही सुनिश्चित कर ली है| भूमंडलीकरण के इस दौर में संसार के सभी भाषाओं के बीच वैचारिक, कार्यात्मक, सर्जनात्मक और वित्तीय संबंध स्थापित करने का एकमेव माध्यम अनुवाद ही है| राष्ट्रीय एकता, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास, ज्ञान-विज्ञान के प्रसार, औद्योगिक विकास, शिक्षा आदि सभी में अनुवाद का महत्त्वपूर्ण योगदान है| अत: एक समय में दोयम दर्जे का स्थान प्राप्त 'अनुवाद' का महत्त्व आज स्वत:स्पष्ट है|

प्रत्येक भाषा अपनी भिन्न प्रकृति, परिवेश, संरचना और अर्थ के साथ विकसित होती है। ऐसी दो भिन्न भाषाओं के बीच अनुवाद एक सेतु के रूप में कार्य करता है, जिसे साधना एक अत्यंत जटिल कार्य है। इस दृष्टि से अनुवाद के स्वरूप को दो संदर्भों में देखा जाता है, जिसमें पहला है- व्यापक संदर्भ और दूसरा सीमित संदर्भ।

व्यापक संदर्भ में अनुवाद प्रतीकांतरण अर्थात् प्रतीक व्यवस्थाओं के बीच होने वाला अंतरण व्यापार है। इस संदर्भ में सुविख्यात भाषा विज्ञानी रोमन याकोब्सन ने भाषिक पक्ष के प्रतीकांतरण के आधारपर अनुवाद को तीन रूपों में स्पष्ट किया है- अंत:भाषिक अनुवाद, अंतर भाषिक अनुवाद और अंतरप्रतीकात्मक अनुवाद| अंत:भाषिक अनुवाद से तात्पर्य एक भाषा के कथ्य को उसी भाषा के अन्य प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्ति देना। शेक्सपियर के अनेक गीति नाट्यों का चार्ल्स लैंब द्वारा किया गया गद्य रूपांतरण अंत:भाषिक अनुवाद के श्रेणी में आता है| अंतर भाषिक अनुवाद दो भिन्न भाषाओं की भिन्न प्रतीक व्यवस्थाओं के बीच घटित होने वाली प्रक्रिया है। अंतरप्रतीकात्मक अनुवाद में किसी भाषिक प्रतीक व्यवस्था से अन्य भाषेतर प्रतीक व्यवस्था के माध्यम से कथ्य को अभिव्यक्त किया जाता है। किसी कहानी, नाटक या उपन्यास का दृश्यांकन और किसी कविता का चित्रांकन अंतरप्रतीकात्मक अनुवाद की कोटि में आता है|

सीमित संदर्भ में अनुवाद भाषा सिद्धांत को लेकर चलता है। यहाँ अनुवाद को भाषांतरण के रूप में ग्रहण किया जाता है। अर्थात् दो भाषाओं के बीच अनुवाद जिसे अंतरभाषिक अनुवाद की संज्ञा प्रदान की गई है। रोमन याकोब्सन इसी को वास्तविक अनुवाद मानते हैं। अंतरभाषिक अनुवाद को भी पाठधर्मी आयाम और प्रभावधर्मी आयाम इन दो आयामों में देखा जा सकता है। पाठधर्मी आयाम के अंतर्गत अनूदित पाठ की संरचना तथा बुनावट मूल पाठ के अनुरूप की जाती है। प्रभावधर्मी आयाम मूलभाषा पाठ की संरचना तथा बुनावट की अपेक्षा स्रोत भाषा पाठ के पाठकों पर पड़े प्रभाव को ही अनूदित पाठ द्वारा उत्पन्न करने की अपेक्षा रखता है।

अनुवाद के व्यापक और सीमित संदर्भ के आधार पर यह तो स्पष्ट है कि अनुवाद एक अनुप्रयोग है। वह न केवल प्रतीक सिद्धांत और भाषा सिद्धांत का अनुप्रयोग है, बल्कि वह स्वयं अपने सिद्धांत का भी व्यावहारिक अनुप्रयोग है।

अनुवाद के स्वरूप के साथ-साथ इसके प्रकृति के संदर्भ में भी चिंतन हुआ है। अनुवाद अपनी प्रकृति में कला, शिल्प या विज्ञान है। इस मुद्दे पर विद्वानों में काफी मतभेद रहा है। कुछ विद्वान मानते हैं कि साहित्य आदि सृजनात्मक कलाओं के समान अनुवाद भी एक सृजनात्मक कला है जिसमें अनुवादक अपनी सृजनात्मक प्रतिभा से अनूदित पाठ को नए रूप में डालता है। दूसरी ओर कुछ विद्वान अनुवाद को विज्ञान की श्रेणी में रखते हैं जिसका आधार अनुवाद का वैज्ञानिक तकनीक है। इनके अतिरिक्त विद्वानों का ऐसा वर्ग भी है जो अनुवाद को न कला मानते हैं न विज्ञान। वे इसे शिल्प की श्रेणी में रखते हैं। इस मान्यता का आधार यह बताया गया कि किसी भी द्विभाषी को प्रशिक्षण द्वारा अनुवाद सिखाया जा सकता है।

अनुवाद की प्रक्रिया पूर्णतः भाषिक प्रक्रिया है, जिसमें दो भाषाएं और इनके बीच संप्रेषण व्यापार होता है। इसमें मूल भाषा पाठ के कथ्य को लक्ष्य भाषा पाठ में प्रतिस्थापित किया जाता है। किसी भी भाषा के आशयपरक, अभिव्यक्तिपरक और समाजपरक ये तीन आयाम होते हैं। इनमें से प्रत्येक आयाम की अपनी निजी व्यवस्था है। अनुवाद प्रक्रिया में अनुवादक का मुख्य लक्ष्य स्रोत भाषा के इन तीनों आयामों को लक्ष्य भाषा के संगत आयामों में प्रतिस्थापित करना होता है, जो कोई सरल कार्य नहीं है। यही कारण है कि अनुवाद कार्य अत्यंत जटिल प्रतीत होता है।

अनुवाद प्रक्रिया के संबंध में अनेक विद्वानों ने गंभीर चिंतन किया है, जिनमें युजीन ए. नाइडा, पीटर न्यूमार्क तथा बाथगेट प्रमुख हैं। नाइडा के अनुवाद प्रक्रिया के तीन सोपान निर्धारित किए हैं- विश्लेषण, अंतरण और पुनर्रचना। इनके अनुसार अनुवादक पहले स्रोत भाषा के मूल पाठ का अर्थ ग्रहण करने के लिए उसका विश्लेषण आंतरिक तथा बाह्य स्तरों पर करता है। अर्थबोध हो जाने के बाद संदेश का लक्ष्यभाषा में अंतरण होता है, जिसमें दोनों भाषाओं के बीच विभिन्न स्तरों पर तालमेल स्थापित होता है। अंत में अनुवादक मूल भाषा पाठ के संदेश की बनावट तथा बुनावट के अनुसार पुनर्रचना करता है।

अनुवाद प्रक्रिया के संदर्भ में नाइडा के चिंतन की तुलना में न्यूमार्क का चिंतन अधिक व्यापक है, जिसमें आधुनिक पाठ तथा विविध भाषा भेदों के अनुवाद की समस्याओं का विवेचन किया गया है। न्यूमार्क ने अनुवाद प्रक्रिया की दो दिशाएं स्वीकार करते हुए मूल पाठ और अनूदित पाठ के सह-संबंध को दो स्तरों पर स्थापित करने का प्रयास किया है। इसमें प्रथम स्तर का संबंध दो पाठों के अंतरक्रमिक (शब्द-प्रति-शब्द) अनुवाद पर आधारित है तथा दूसरे स्तर का संबंध मूल पाठ के अर्थबोध और लक्ष्य भाषा में अभिव्यक्तिकरण से है।

इसी प्रकार बाथगेट ने भी अनुवाद प्रक्रिया पर चिंतन किया है जो नाइडा और न्यूमार्क के चिंतन से अधिक व्यापक है। बाथगेट ने अनुवाद प्रक्रिया के निम्न चरण बताएं हैं-

मूलभाषा पाठ → समन्वयन → विश्लेषण → बोधन → पारिभाषिक → अभिव्यक्ति → पुनर्गठन → पुनरीक्षण → पर्यालोचन → लक्ष्यभाषा पाठ

बाथगेट द्वारा प्रस्तावित यह चरण अनुवाद कार्य की व्यावहारिक प्रकृति से मेल खाता है।

आधुनिक भाषाशास्त्र अनुवाद की प्रकृति कला, शिल्प या विज्ञान है- इस चर्चा को निरर्थक बताते हुए यह मानता है कि अनुवाद की प्रक्रिया हमेशा वैज्ञानिक ही होती है, चाहे वह साहित्यिक पाठ का हो या साहित्यतेर पाठ का। इस दृष्टि से अनुवाद की प्रक्रिया पर रोजर बेल (1991) ने भी चर्चा की है। रोजर बेल भाषा प्रयोक्ता को भी एक प्रकार से अनुवादक ही मानते हैं। उनके अनुसार भाषा प्रयोक्ता चाहे वक्ता हो या श्रोता, चाहे लेखक हो या पाठक, एक भाषी हो या द्विभाषी, अनुवाद की प्रक्रिया सतत उसके साथ चलती रहती है। वह वक्ता या लेखक द्वारा व्यक्त कोड (भाषा) को विकोडीकृत करता है और उसमें निहित संदेशों को ग्रहण करता है तथा उसके अनुसार अपने विचारों को कोडीकृत करता है और उसकी अभिव्यक्ति करता है। इस प्रकार यह भावों तथा विचारों का भाषा में अंतरण होता है।

रोजर बेल ने अनुवाद प्रक्रिया के संदर्भ में नौ चरणों का उल्लेख किया है वे निम्न् प्रकार से हैं-

अनुवाद द्वारा संकेत में निहित संदेश का ग्रहण

□

कोड1 की पहचान

□

संकेत1 का विकोडीकरण

□

संकेत का प्रतिनयन

□

संदेश का बोध

□

कोड 2 का चयन

□

कोड2 के माध्यम से संदेश का कोडीकरण

□

संप्रेषण सरणि का चयन

□

संकेत2 में निहित संदेश का प्रेषण

रोजर बेल का यह अनुवाद चिंतन अनुवाद की भूमिका को पाठभाषा विज्ञान और संकेत विज्ञान से जोड़ते हुए अनुवादक की बदलती भूमिका निर्धारित करता है। उपर्युक्त चरणों को अनुवाद के लिए एक निश्चित तकनीक, प्रणाली और पद्धति के रूप में देखा जा सकता है जिसमें अनुवाद कार्य अपनी वैज्ञानिक प्रक्रिया के सहारे आदर्श रूप ग्रहण करता है। रोजर बेल द्वारा प्रस्तावित अनुवाद प्रक्रिया के अनुसार भाषा अपने मूल रूप में औपचारिक संरचना अथवा एक 'कोड' होती है, लेकिन उसका यह रूप सीमित है। भाषा संप्रेषण के संदर्भ सापेक्ष अनके ऐसे भेद होते हैं जिसे अनुवाद की दृष्टि से दो श्रेणियों में रखा जा सकता है। एक- साहित्यिक अनुवाद, जो भाषा के भाव पक्ष से संबंधित होता है और दूसरा साहित्येतर अनुवाद, जो तथ्य केंद्रित होता है। अर्थात् मोटे तौर पर अनुवाद के दो प्रकार हैं- साहित्येतर अनुवाद और साहित्यिक अनुवाद।

साहित्यिक अनुवाद के अंतर्गत सभी प्रकार के सृजनात्मक साहित्य का अनुवाद आ जाता है, जिनमें कविता, कहानी, नाटक, निबंध आदि साहित्यिक विधाएं सम्मिलित हैं। साहित्यिक अनुवाद को शैली प्रधान अनुवाद कहा जाता है। वही साहित्येतर अनुवाद विषयप्रधान होता है जिसके अंतर्गत वैज्ञानिक, तकनीकी, वाणिज्य, प्रशासनिक, विधि, संचार माध्यम, मानविकी एवं समाजशास्त्रीय आदि विषयों के अनुवाद सम्मिलित हैं।

साहित्यिक अनुवाद मुक्त अनुवाद है जिसमें अनुवादक को अनूदित पाठ के कुछ अंश छोड़ने तथा कुछ नया जोड़ने की छूट रहती है। अर्थात अनुवादक यह एक सीमा तक सर्जक की भूमिका निभाता है। साहित्यिक अनुवाद कलापरक तथा वैयक्तिक होता है। इसकी शैली अलंकारिक होती है। अभिव्यंजनापरक भाषा का प्रयोग, रसात्मकता साहित्यिक अनुवाद की विशेषता है। इसके विपरीत साहित्येतर अनुवाद में निर्वैयक्तिकता, अलंकाररहित तथा वस्तुनिष्ठ भाषा शैली महत्वपूर्ण रहती है। साहित्येतर अनुवाद में पारिभाषिक शब्दावली के प्रयोग की अनिवार्यता होती है। अनुवादक को साहित्येतर विषयों के अनुवाद में पठनीयता, प्रामाणिकता, अर्थस्पिष्टधता तथा बोधगम्यता का निर्वाह करना आवश्यक है।

आज अनुवाद के अंतर्गत अनूदित पाठों की अधिकांश सामग्री साहित्यिक न होकर तकनीकी, विधि, प्रशासन, जनसंचार आदि साहित्येतर विषयों से संबंधित है, जिसमें भाषिक सामाजिक और प्रकार्यात्मक स्थितियों में भाषा विभिन्न भूमिकाओं में अलग-अलग रूप में प्रस्तुत होती है। अतः साहित्येतर क्षेत्रों में अनुवाद के प्रयोग के चलते ही उसमें व्यावसायिकता आ गई है।

संदर्भ ग्रंथ-सूची

अनुवाद विज्ञान की भूमिका, 2008, कृष्ण कुमार गोस्वामी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

2. अनुवाद सिद्धांत की रूपरेखा, 2007, सुरेश कुमार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
3. अनुवाद विज्ञान, 2009, भोलानाथ तिवारी, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली।
4. अनुवाद प्रक्रिया एवं परिदृश्य, 2004, रीतारानी पालीवाल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
5. अनुवाद क्या है, 2004, (संपा.) भ.ह. राजूरकर, राजकमल बोरा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
6. अनुवाद सिद्धांत एवं प्रयोग, 2004, जी. गोपीनाथन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
7. अनुवाद के विविध आयाम, 2005, पूरणचंद टंडन, हरीश कुमार सेठी, तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली।
8. अनुवाद अवधारणा और अनुप्रयोग, 1987, (संपा.) चंद्रभान रावत, दिलीप सिंह, उच्चशिक्षा और शोध संस्थान, दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, हैदराबाद।
9. अनुवाद बोध, 1990, (संपा.) गार्गी गुप्त, भारतीय अनुवाद परिषद, दिल्ली।
10. अनुवाद की व्यावहारिक समस्याएँ, 1999, भोलानाथ तिवारी, ओमप्रकाश गाबा, शब्दाकार प्रकाशन, दिल्ली।
11. अनुवाद नई पीठिका नए संदर्भ, 2001, (संपा.) दिलीप सिंह, ऋषभदेव शर्मा, उच्चशिक्षा और शोध संस्थान, दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, चैन्ने।
12. अनुवाद स्वरूप और आयाम, 1997, त्रिभुवन राय, अनिल प्रकाशन, इलाहाबाद।
13. अनुप्रयुक्त भाषा विज्ञान सिद्धांत एवं प्रयोग, 2000, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।
14. जीवन बीमा व्यवसाय में हिंदी प्रयोग, 1996, सुधीर निगम, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।
15. अनुवाद का सामायिक परिप्रेक्ष्य, 2009, (संपा.) दिलीप सिंह, ऋषभदेव शर्मा, उच्च शिक्षा और शोध संस्थान, दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, हैदराबाद।

http://transframe.in